नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 133 • वर्ष 11 अंक 6
जुलाई 2009 • तीन रुपये • 12 पृष्ठ

यूपीए सरकार के पहले बजट का मकसद

ग़रीबों को राहत योजनाओं के हवाई गुब्बारे थमाकर पूँजीपतियों की लूट के मुकम्मल इन्तज़ाम!!

सम्पादक मण्डल

यूपीए सरकार का पहला बजट वैसा ही था जैसी इस सरकार से उम्मीद थी – यानी "आम आदमी" को राहत देने के लिए कुछ लोक-लुभावन घोषणाएँ और वास्तव में पूँजीपतियों की लूट को फ़ायदा पहुँचाने के पुख़्ता इन्तज़ाम करना। वैसे सच तो यह है कि आजकल अर्थव्यवस्था को चलाने वाले ज़्यादातर बड़े फैसले को बजट के आगे-पीछे लिये जाते हैं, फिर भी इस बजट ने सरकार की मंशा तो जाहिर कर ही दी है।

जिस ग्रामीण रोजगार योजना को लेकर सरकार बड़े-बड़े दावे कर रही है उसके बजट में वास्तव में केवल 6.5 प्रतिशत की ही बढ़ोत्तरी की गई है। नरेगा के वर्तमान क़ानून के मुताबिक साल में कम से कम सौ दिन रोज़गार देने का वादा किया गया है। यह अलग बात है कि ज़्यादातर जगहों पर इतना भी नहीं मिलता। इसे बढ़ाने की बात तो दूर सरकार ने बजट में जितना धन दिया है उससे महँगाई की बढ़ी दरों पर वर्तमान स्थिति को बनाये रखना भी मुश्किल होगा।

सरकार ने अपने सौ दिन के एजेण्डे में वादा किया है कि रोज़गार गारंटी क़ानून की तर्ज़ पर लोगों के भोजन के अधिकार और शिक्षा के अधिकार के क़ानून को अमली जामा पहनाया जायेगा। राष्ट्रपति के अभिभाषण में भी इस वादे का ज़िक्र था। लेकिन बजट में इन दोनों प्रावधानों के लिए धनराशि का कोई इन्तज़ाम नहीं किया गया। वित्त मंत्री ने बजट भाषण में खाद्य सुरक्षा क़ानून का उल्लेख तो किया है लेकिन यह स्पष्ट नहीं किया है कि यह क़ानून कितने दिनों में लागू होगा। उन्होंने बस इतना कहकर पल्ला झाड़ लिया कि सरकार प्रस्तावित राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा विधेयक का मसौदा सार्वजनिक बहस और विचार-विमर्श के लिए जल्दी ही पेश करेगी। आज भारत में दुनिया के सबसे अधिक भूखे लोग रहते हैं, जिन्हें दो जून भरपेट खाना नहीं मिल पाता है। सरकार लगातार तेज़ विकास दर का दावा कर रही है लेकिन इस तेज़ विकास दर के बावजूद देश में कुपोषण और भुखमरी की हालत ज्यों की त्यों बनी हुई है। बजट के ठीक पहले जारी आर्थिक सर्वेक्षण में भी कहा गया है कि 1998-1999 में तीन वर्ष से कम उम्र के सैंतालीस फ़ीसदी बच्चे कुपोषण के शिकार थे और अगले सात वर्षों में तेज़ विकास दर के बावजूद 2005-06 में भी ऐसे बच्चों की संख्या छियालीस फ़ीसद पर बनी हुई थी। पूँजीवादी "विकास" की असलियत को उजागर करने के लिए इससे बड़ी बात भला और क्या हो सकती है!

शिक्षा के अधिकार सम्बन्धी क़ानून के बारे में भी सरकार लम्बे-लम्बे दावे करती रही है। वित्त मंत्री ने बजट भाषण में शिक्षा के बारे में बड़ी-बड़ी बातें करने के बावजूद शिक्षा के अधिकार के क़ानून का न तो कोई ज़िक्र किया और न ही उसके लिए बजट में कोई प्रावधान किया। प्राथमिक शिक्षा के मद में पिछले वित्त वर्ष के संशोधित बजट अनुमान 19488 करोड़ रुपए की तुलना में चालू वित्त वर्ष में सिर्फ़ 194 करोड़ रुपए यानी महज़ एक फ़ीसदी की बढ़ोत्तरी की गयी है।

दूसरी ओर कारपोरेट क्षेत्र को खुश करने के लिए फ्रिंज बेनीफ़िट टैक्स खत्म कर दिया है। 2007-08 में फ्रिंज बेनीफ़िट टैक्स से सरकारी खज़ाने को 6533 करोड़ रुपए की आय हुई थी। यानी वित्तमंत्री ने एक झटके में कारपोरेट क्षेत्र को लगभग सात हजार करोड़ रुपए का तोहफ़ा दे दिया है। इसी तरह निजी आयकर पर दस प्रतिशत के सरचार्ज को समाप्त कर दिया गया है। इसका फ़ायदा दस लाख रुपए से अधिक की आय वाले अमीर वर्गों को होगा। मध्यवर्ग को भी खुश करने के लिए टैक्स के स्लैब में मामूली फेरबदल किया गया है। बड़े व्यापारियों को फ़ायदा पहुँचाने के लिए जिन्सों के कारोबार में लगे सटोरियों को काबू में रखने के लिए उन पर लगने वाले कमोडिटी ट्रांज़ैक्शन टैक्स को भी ख़त्म कर दिया है। उल्लेखनीय है कि जिन्सों का वायदा कारोबार 2008 में लगभग पचास लाख करोड़ रुपए तक पहुँच गया और यह माना जाता है कि कई जिन्सों और खाद्यान्न की कीमतों में बेहिसाब बढ़ोत्तरी की एक बड़ी वजह उनका वायदा कारोबार भी है।

सरकार ने रक्षा बजट में सीधे 35 प्रतिशत की भारी बढ़ोत्तरी कर दी है। हिन्दुस्तान अब सेना पर खर्च करने के मामले में दुनिया में दसवें नम्बर का देश बन गया है। इस मामले में वह दुनिया के सबसे अमीर देशों की बराबरी कर रहा है। लेकिन

(पेज 5 पर जारी)

गोरखपुर में तीन कारख़ानों के मज़दूरों के एकजुट संघर्ष की शानदार जीत

'बिगुल' से जुड़े मज़दूर कार्यकर्ताओं पर क़ातिलाना हमला मालिकान को महँगा पड़ा

बिगुल संवाददाता

गोरखपुर के तीन कारख़ानों के मज़दूरों ने अपने एकजुट संघर्ष से मालिकों को झुकाकर अपनी सभी प्रमुख माँगें मनवाकर एक शानदार जीत हासिल की है। अंकुर उद्योग लि. की धागा मिल, वी.एन. डायर्स एण्ड प्रोसेसर्स की धागा मिल और इसी की कपड़ा मिल के करीब बारह सौ मज़दूरों की इस जीत का महत्त्व इसलिए और भी ज़्यादा है क्योंकि यह ऐसे समय में हासिल हुई है, जब मज़दूरों को लगातार पीछे धकेला जा रहा है और ज़्यादातर जगहों पर उन्हें हार का सामना करना पड़ रहा है। ऐसे में पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक बेहद पिछड़े इलाक़े में मज़दूरों के इस सफल संघर्ष ने यह दिखा दिया है कि अगर मज़दूर एकजुट रहें, भ्रष्ट, धन्धेबाज़ ट्रेड यूनियन नेताओं के बहकावे में न आयें और मालिक-पुलिस-प्रशासन-नेताशाही की धमकियों और झाँसों के असर में आये बिना अपनी लड़ाई को सुनियोजित ढंग से लड़ें तो अपने बुनियादी अधिकारों की लड़ाई में ऐसी जीतें हासिल कर सकते हैं।

जिलाधिकारी कार्यालय पर धरना दे रहे मज़दूर

आन्दोलन की शुरुआत मुख्य शहर से करीब 10 किलोमीटर दूर बरगदवा इलाक़े में फ़ाइबर का धागा बनाने वाली मिल अंकुर उद्योग लि. से हुई जिसमें करीब 600 मज़दूर काम करते हैं। काम के घण्टे कम करने, न्यूनतम मज़दूरी और साप्ताहिक छुट्टी देने, पी.एफ़., ई.एस.आई., जैसी बुनियादी माँगों को लेकर मज़दूरों ने 15 जून से आन्दोलन शुरू किया और उसी दिन उन्होंने आन्दोलन में सहयोग के लिए 'नौजवान भारत सभा' और 'बिगुल' से जुड़े कार्यकर्ताओं से सम्पर्क किया। 16 जून से 'नौभास' और 'बिगुल' के साथियों के शामिल होने के बाद आन्दोलन सुनियोजित ढंग से आगे बढ़ा। जल्दी ही, बरगदवा में ही स्थित एक

(पेज 12 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

पाँच साल में शहरों को झुग्गी-मुक्त करने के दावे की असलियत

यूपीए सरकार ने बड़े जोर-शोर से दावा किया है कि पाँच साल में देश के शहरों के झुग्गियों से मुक्त कर दिया जायेगा। वैसे तो एक तरह से शहरों में अमीरों और उच्च मध्यवर्ग के लोगों वाले इलाकों को "झुग्गी-मुक्त" करने का अभियान लगातार बेरोकटोक चलता ही रहता है। झुग्गी बस्तियों पर बुलडोज़र चलाने से लेकर उन्हें आग लगवाकर जगहें खाली कराना और गरीबों को शहरों के बाहर दूर-दराज़ उठाकर फेंक देने का काम साल भर चलता रहता है। लेकिन अब सरकार कह रही है कि नये तरीके से शहरों को झुग्गी-मुक्त किया जायेगा यानी ग़रीबों को पक्के मकान बनाकर दिये जायेंगे। वैसे खुद सरकार का कहना है कि इस काम के लिए कुछ लाख मकान बनाये जायेंगे। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि झुग्गी-मुक्त करने के दावे की असलियत क्या है?

मोटे अनुमान के तौर पर आज देश के बड़े शहरों में रहने वाली लगभग एक तिहाई आबादी झुग्गियों में रह रही है। (वैसे संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार अगले कुछ सालों में दुनिया के शहरों में रहने वाली आधी आबादी झुग्गियों में होगी!) यानी झुग्गी बस्तियों में रहने वालों की आबादी चन्द लाख नहीं बल्कि कई करोड़ अभी हो चुकी है। पूँजीवादी लुटेरी नीतियाँ गाँव और छोटे शहरों और कस्बों से लगातार जिस तरह गरीबों को उजाड़कर रोजी-रोटी की तलाश में बड़े शहरों में लाकर पटक रही है ऐसे में महानगरों में झुग्गी में रहने वालों की तादाद लगातार बढ़ती ही रहेगी। फिर ये कुछ लाख पक्के मकान कितने लोगों की ज़रूरत पूरी कर सकेंगे इसे आसानी से समझा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि सरकारी मकान भी उन्हीं लोगों को मिलेंगे जिनके पास झुग्गी के काग़ज़ या और कोई प्रमाणपत्र होगा। आज शहरी ग़रीबों की एक बहुत बड़ी आबादी तो ऐसी है जिसके पास अपनी पहचान या रोज़गार का ही कोई प्रमाण नहीं है, तो भला वे पक्के मकान पाने के बारे में सोच भी कैसे सकेंगे। और ये मकान भी सरकार कोई मुफ़्त नहीं देगी बल्कि उनकी लागत तो किश्तों में ही सही गरीबों से वसूली जायेगी। किसी तरह दो वक़्त की रोटी का इन्तज़ाम करने वाली ग़रीबों की भारी आबादी ये किश्तें भी भला कैसे चुका पायेगी? दूसरे, इस तरह की योजनाओं में पहले जो मकान बने हैं उनका बहुत बड़ा हिस्सा तो मध्यवर्गीय लोगों और छोटे-मोटे बिल्डरों के क़ब्ज़े में आ चुका है। इस योजना का हश्र इससे अलग होगा ऐसा नहीं लगता।

कुल मिलाकर, शहरी गरीबों की भारी आबादी के मन में एक झूठी उम्मीद पैदा करने और शोषण और तबाही से उनमें बढ़ते असन्तोष की आँच पर पानी के छींटे डालने के अलावा इससे और कुछ नहीं होगा। हाँ, मन्दी की मार झेल रहे निर्माण उद्योग, सीमेण्ट कम्पनियों और बिल्डरों को घटिया मकान बनाकर मोटी कमाई करने का एक और रास्ता मिल जायेगा।

आपस की बात

शहीद भगत सिंह के इहे एक सपना रहे

छोड़ देसवा में क्रान्ति की तान भईया,
मिल-जुल गढ़े चला नया हिन्दोस्तान भईया।

केकरो महला अटारी और खजाना भरल,
घूमे खाति दुआरा गाड़ी मार्शल लगल।
तो केकरो साईकल के नहीं के ठिकाना भईया
मिल-जुल कर...

दिन रात काम करिले फिर भी फुटपाथ पे सुतीले,
तन पे कपड़ा नयी खे भर पेट खाना ले तरसीले,
घर में झोपड़ी के नइखे ठिकान भईया
मिल-जुल कर...

आज नेतवन के झुठा-झुठा वायदा सुनल,
सस्ते दारू दिहव नेता हमरा चुनल,
इनकर बतिया में ना जईया इनसान भईया।
मिल-जुल कर...

शहीद भगत सिंह के एही एक सपना रहे
सब बराबर रहे कोई न भूखा मरे
उनके बतिया पर कर हम धियान भईया।
मिल-जुल कर...

कारख़ाना मज़दूर युनियन क्रान्तिकारी संगठन बनल
उन कर बतिया में गरीबन के जोति जगल
एहि है सिद्धेश्वर के कहना भईया
मिल-जुल कर गढ़े चला नया हिन्दोस्तान भईया।

सिद्धेश्वर यादव
फौजी कालोनी, लुधियाना

सरकारी अस्पताल

यहाँ मरीजों की भरमार है मगर दवाओं का अकाल है
पर्चियाँ लेकर घूमते लोग हैं यह शहर का सरकारी अस्पताल है
यहाँ मरीजों को मुफ़्त इलाज के लिए बुलाया जाता है
फिर टेस्ट के बहाने दौड़ाया जाता है
बाद में दवाओं के आभाव का रोना रोते हैं
उचित इलाज करने के लिए अपने क्लिनिक का पता देते हैं
एक तो सरकार की उँची तनख़्वाह है दूसरे डॉक्टरी का बिजनेस भी बहाल है
पर्चियाँ लेकर घूमते लोग हैं यह शहर का सरकारी अस्पताल है
यहाँ दवायें काग़ज़ के पन्नों पर बँटवाई जाती हैं
स्टॉक की दवायें सारी मेडीकल से बेचवाई जाती हैं
साधनहीन ग़रीब दुखियारे इलाज के लिए जब आते हैं
चेकअप करके उन लोगों को पर्चियाँ पकड़ाई जाती हैं
भोली जनता सिसक रही है सेहत मेहकमा मालामाल है
पर्चियाँ लेकर घूमते लोग हैं यह शहर का सरकारी अस्पताल है
अकलमन्द मरीजों से जब इनका पाला पड़ जाता है
मानव रूपी हैवानों का भेद वहीं खुल जाता है
अपने फर्ज से बचने को इधर उधर भरमाता है
इससे जब न बात बने ग़लत रिपोर्ट बनाता है
जीता जागता उदाहरण इसका छय रोगी गोपाल है
पर्चियाँ लेकर घूमते लोग हैं यह शहर का सरकारी अस्पताल है
सारे शहर में आग लगी है हर सू मारा मारी है
हाथ कटे हैं पेट कटे हैं दहशत सब पे तारी है
बूढ़े बच्चे नर और नारी दर्द से चिल्लाते हैं
इलाज न इनका हुआ अगर तो मरने की तैयारी है
एक हफ़्ते से सारे डॉक्टरों की बेमुद्दत हड़ताल है
पर्चियाँ लेकर घूमते लोग हैं यह शहर का सरकारी अस्पताल है

टी. एम. आंसारी
पावरलूम ऑपरेटर
शक्तिनगर, लुधियाना

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक
बिगुल

अब इण्टरनेट पर भी उपलब्ध है। इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक और राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हमारा प्रयास होगा कि बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक जल्दी ही वेबसाइट पर उपलब्ध करा दिये जायें।

वेबसाइट का पता :
http://sites.google.com/site/bigulakhbar

'बिगुल' के ब्लॉग पर भी आप इसकी सामग्री पा सकते हैं और अपने विचार एवं सुझाव भेज सकते हैं।

ब्लॉग का पता :
http://bigulakhbar.blogspot.com

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डापफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ
दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर दिल्ली-94 फ़ोन : 011-65976788
ईमेल : bigul@rediffmail.com

मूल्य : एक प्रति-रु. 3/- वार्षिक-रु. 40.00 (डाक ख़र्च सहित)

बिगुल

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध :

1. **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
2. **जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)**
3. **जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001**
4. **जनचेतना सचल स्टाल (ठेला) चौड़ा मोड़, नोएडा ;शाम 5 से 8)**

फ़िर दफ़नाये जाने के लिए पेश की गयी एक और रिपोर्ट

भारत एक ऐसा देश है, जहाँ अनेकं राष्ट्रीयताओं, जातियों और धर्मों के लोग रहते हैं। भारतीय जनता की यह राष्ट्रीयता, जाति और धार्मिक विभिन्नता इस देश के लुटेरे हुक्मरानों द्वारा, यहाँ की जनता की एकता तोड़ने के लिए एक हथियार की तरह हमेशा इस्तेमाल की जाती रही है। हमारे हुक्मरानों ने यह ख़ूबी, फिरंगियों से विरासत में हासिल की है, जिन्होंने 'बाँटो और राज करो' की रणनीति के तहत लगभग 100 वर्ष से भी अधिक समय तक देश को गुलाम बनाये रखा। 1947 में देश की राज्यसत्ता पर काबिज हुए नये हुक्मरानों ने भी भारतीय जनता को राष्ट्रीयता, जाति, धर्म के आधार पर आपस में लड़ाने में महारत हासिल की है और इस मामले में वे फिरंगियों के योग्य वारिस साबित हुए हैं। जनता की राष्ट्रीय, जातीय और धार्मिक भावनाओं को भड़काने, जगह-जगह दंगे-फसाद करवाने और लोगों की लाशों पर पैर रखकर राजसिंहासन तक पहुँचने का धन्धा किसी न किसी रूप में सभी पूँजीवादी संसदीय पार्टियाँ करती रहती हैं। लेकिन इनमें से संघ परिवार का अंग भारतीय जनता पार्टी सबसे आगे है। संघ परिवार का हिन्दू साम्प्रदायिक फ़ासीवाद पिछले ढाई-तीन दशकों से भारत के मेहनतकश लोगों, धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए बड़ा ख़तरा बनकर उभरा है। कम्युनिस्ट, मुस्लिम, और ईसाई इस संघी फ़ासीवाद के मुख्य निशाने पर हैं।

धार्मिक अल्पसंख्यकों को भले ही आज़ाद भारत में हमेशा डरे-सहमे माहौल में रहना पड़ा है, लेकिन संघ परिवार के उभार ने भारत में अल्पसंख्यकों का जीना और भी मुश्क़िल कर दिया है।

संघ परिवार के काले कारनामों की सूची बहुत लम्बी है। 2002 में गुजरात में मुसलमानों के क़त्लेआम और पिछले वर्ष उड़ीसा में ईसाइयों के क़त्लेआम के तो अभी जख़्म भी हरे हैं। लेकिन 6 दिसम्बर 1992 को अयोध्या में बाबरी मस्जिद के गिराये जाने का स्थान संघ परिवार के काले कारनामों में सबसे ऊपर है। 6 दिसम्बर 1992 का दिन भारतीय इतिहास का काला दिन है।

देश में पूँजीवादी राजनीतिज्ञों की ओर से घपलों-घोटालों के ज़रिये जनता की ख़ून-पसीने की कमाई हड़प ली जाती है, धर्म-जाति-राष्ट्रीयता के नाम पर दंगे-फसाद करवाये जाते हैं, बेगुनाह लोगों का ख़ून पानी की तरह बहाया जाता है, फिर सरकार इसकी जाँच के लिए एक कमीशन बैठाती है। कमीशन अपनी रिपोर्ट देता है और संसदीय सुअरबाड़े में इस पर कुछ दिन शोर-शराबा होता है। इसके बाद इस रिपोर्ट को चूहों के कुतरने के लिए छोड़ दिया जाता है।

हर बार ऐसा ही होता है। इस बार भी कुछ ऐसा ही हुआ। बाबरी मस्जिद गिराये जाने के बाद सरकार ने इस घटना की जाँच के लिए जस्टिस एम.एस. लिब्रहान के नेतृत्व में 16 दिसम्बर 1992 को एक जाँच कमीशन क़ायम किया। इस कमीशन को तीन महीने के भीतर अपनी जाँच रिपोर्ट सरकार को सौंपनी थी। लेकिन हद दर्जे की बेशर्मी दिखाते हुए इस कमीशन ने 17 वर्ष में अपनी 'जाँच' मुकम्मल की। इन 17 वर्षों में इस कमीशन ने 48 बार अपने कार्यकाल का समय बढ़वाया और 8 करोड़ से ऊपर रुपये ख़र्च किये।

आइये देखें कि लिब्रहान कमीशन ने करोड़ो रुपये ख़र्च करके 17 वर्षों में क्या खोजा। लिब्रहान कमीशन की जाँच रिपोर्ट के मुताबिक़ राष्ट्रीय सवयंसेवक संघ ने कई दशक पहले ही बाबरी मस्जिद गिराने की तैयारियाँ शुरू कर दी थीं और अपनी इन कोशिशों को यह संगठन तब ही ठोस रूप दे सका, जब उत्तर प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी की सरकार बनी, जिसका मुख्यमन्त्री कल्याण सिंह था। 1992 की शुरुआत से ही आर.एस.एस. और बीजेपी ने अयोध्या और फ़ैजाबाद में अपने आदमियों की तैनाती शुरू कर दी। इन शहरों में कई अफ़सरों को हटाया गया और संघ के पसन्दीदा अफ़सरों को तैनात किया गया। इस हालत में 'क़ानून' लागू करने वाला कोई नहीं रहा और पुलिस को भी वर्दीधारी कारसेवकों में बदल दिया गया। पुलिस के हथियार ले लिये गये और उन्हें डण्डे पकड़ा दिये गये। सरकार की तरफ़ से सख़्त हिदायतें दी गयीं कि कारसेवकों के विरुद्ध कोई कार्रवाई न की जाये। 6 दिसम्बर 1992 की कई दिन पहले से ही तैयारियाँ शुरू की दी गयीं। संघ ने 5 लाख कारसेवकों को अयोध्या पहुँचाया। उनकी रिहायश, भोजन, पानी आदि का इन्तज़ाम किया गया। यह सब राज्य सरकार की सक्रिय भागीदारी के बिना सम्भव नहीं था। मुख्यमन्त्री कल्याण सिंह इन तैयारियों का जायज़ा लेने के लिए बार-बार अयोध्या के चक्कर काटता रहा।

कमीशन का कहना है कि भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी ने बाबरी मस्जिद गिराये जाने के लिए माहौल बनाया। रिपोर्ट में भाजपा नेता मुरली मनोहर जोशी, उमा भारती, बजरंग दल के मुखी विनय कटियार सहित आर.एस.एस., विश्व हिन्दू परिषद के कुछ नेताओं को बाबरी मस्जिद गिराये जाने का दोषी ठहराया गया है। रिपोर्ट का यह भी कहना है कि केन्द्र में पी.वी. नरसिंह राव के नेतृत्व वाली सरकार ने भी इस घटना को रोकने के लिए पर्याप्त इन्तज़ाम नहीं किये।

ये हैं लिब्रहान कमीशन की रिपोर्ट के कुछ अहम खुलासे, जिनमें कुछ भी नया नहीं है। संघियों ने राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मीडिया के सामने सरेआम बाबरी मस्जिद गिरायी थी। सारी दुनिया में करोड़ों लोगों ने टेलीविज़न पर इसका सीधा प्रसारण भी देखा था। करोड़ों लोगों ने वे वहशी चेहरे देखे थे, जो बाबरी मस्जिद गिरा रहे थे।

बाबरी मस्जिद को गिराये जाने की जाँच बहुत पहले ही सी.बी.आई. भी कर चुकी है। बाबरी मस्जिद गिराये जाने के बाद अयोध्या के एक थाने में जाँच के लिए दो एफ.आई.आर. दर्ज की गयी थीं : पहली (केस नम्बर-197) लाखों अज्ञात कारसेवकों के ख़िलाफ़, जबकि दूसरी (केस नम्बर-198) आडवाणी, मुरली मनोहर जोशी और उमा भारती सहित आठ व्यक्तियों के ख़िलाफ़ थी, जिन पर भड़काऊ भाषण देने के आरोप थे। बाद में ये केस सी.बी.आई. को सौंप दिये गये थे। सी.बी.आई. ने 5 अक्टूबर 1993 को दायर की गयी चार्जशीट में न सिर्फ़ अडवाणी और अन्य को दोषी माना था, बल्कि इसमें 5 दिसम्बर 1992 को बजरंग दल के अध्यक्ष विनय कटियार की रिहायश पर हुई गुप्त मीटिंग का भी ज़िक्र था, जिसमें बाबरी मस्जिद गिराये जाने का अन्तिम फ़ैसला लिया गया था।

तो फिर लिब्रहान कमीशन ने 17 वर्षों में जनता के करोड़ों रुपये ख़र्च करके नया क्या ढूँढ़ा? कुछ भी नहीं। सभी जानते हैं कि बाबरी मस्जिद गिराने वाले कौन हैं। सभी जानते हैं कि 2002 में गुजरात में हज़ारों मुसलमानों और पिछले वर्ष उड़ीसा में हज़ारों इसाइयों पर जुल्म करने वाले कौन हैं। यह जनता भी जानती है और हुक्मरान भी। यह सब जानने के लिए जाँच कमीशनों की ज़रूरत नहीं होती। यह जाँच कमीशन तो सिर्फ़ जनता की आँखों में धूल डालने का साधन ही हैं।

1984 में दिल्ली में हुए सिक्खों के कत्लेआम के दोषियों को सभी जानते हैं, लेकिन आज तक दिल्ली दंगों के किसी भी दोषी का बाल तक बाँका नहीं हुआ। गुजरात 2008 में कन्धमाल में ईसाइयों के क़ातिलों का भी कुछ नहीं बिगड़ने वाला। लिब्रहान कमीशन की रिपोर्ट पर भी कुछ दिन संसद में बहसबाज़ी का नाटक खेला जायेगा। उसके बाद इसे भी कहीं गहरा दफ़ना दिया जायेगा। हुक्मरानों के सभी हिस्से इस हमाम में नंगे हैं। कौन किसे सज़ा देगा? हुक्मरान वर्ग के सभी हिस्से जनता को बाँटने, लड़वाने, मरवाने, लूटने और पीटने में एक-दूसरे से आगे हैं। इनसे इंसाफ़ की उम्मीद करना सबसे बड़ी मूर्खता है। इंसाफ़ तो एक दिन देश की मेहनतकश जनता करेगी। जब एकजुट होकर मेहनतकश जनता उठेगी तो जनता के इन कातिलों के मुकदमों की सुनवाई होगी।

सुखदेव

भटिण्डा में पंजाब पुलिस द्वारा मज़दूरों का बर्बर दमन

भटिण्डा (पंजाब) के नज़दीक गाँव फुल्लो खारी में सरकार (एच.पी.सी.एल.) और मित्तल एनर्जी इंवेस्टमेण्ट प्राइवेट लिमिटेड, सिंघापुर के साझे सहयोग वाले गुरु गोबिन्द सिंह तेल शोधक कारख़ाने के निर्माण का काम चल रहा है। यहाँ लगभग 15000 मज़दूर काम करते हैं। अधिकतर मज़दूर बाहरी राज्यों उत्तर प्रदेश, बिहार आदि से आये हुए हैं। यहाँ काम कर रहे मज़दूर ठेका कम्पनी केजेस्ट्राय प्राइवेट लिमिटेड की तरफ़ से भरती हैं। इस तरह मज़दूरों के काम के हालात और सुरक्षा के मामले में कम्पनी अपनी कोई ज़िम्मेदारी नहीं समझती। 28 जून रविवार को भानु तिवारी नाम के बिहारी मज़दूर की काम के दौरान गर्मी लगने से हुई मौत के बाद जब कम्पनी प्रबन्धन ने ग़ैर-ज़िम्मेदाराना रवैया अपनाया तो मज़दूरों का गुस्सा सुलग उठा। मज़दूरों ने जुझारू एकजुटता दिखाते हुए प्रबन्धन के ख़िलाफ़ ज़ोरदार आवाज़ बुलन्द की। अपने मृतक साथी को इंसाफ़ दिलाने के लिए आवाज़ बुलन्द करने वाले निहत्थे मज़दूरों के दमन के लिए कम्पनी प्रबन्धन और प्रशासन ने चार ज़िलों की पुलिस और कमाण्डो दस्तों का सहारा लिया। लेकिन मज़दूर लगातार डटे रहे। जिसके फलस्वरूप कम्पनी मृतक के परिवार को 4.5 लाख रुपये का मुआवज़ा देगी। लेकिन साथ ही मज़दूरों में आतंक पैदा करने के लिए पुलिस ने मज़दूरों और उनके परिवारों को घरों से निकाल-निकालकर बेरहमी से पीटा। 100 से भी अधिक मज़दूर गम्भीर रूप से घायल हुए। लेकिन इतने भयंकर दमन के बावजूद प्रशासन मज़दूरों के घायल होने की बात मानने तक को तैयार नहीं हुआ और कहता रहा कि 20 पुलिसकर्मी घायल हुए हैं। मौक़े पर पहुँचे मीडियावालों को ख़बर लेने से रोका गया और उनके कैमरे छीन लिये गये। एक तरफ़ तो पुलिस अधिकारियों ने एक हद तक माना कि कम्पनी ने कुछ अन्याय ज़रूर किया है, लेकिन यह सिर्फ़ कहने के लिए कहा गया था, क्योंकि पुलिस घटना की तस्वीरें देखकर अन्याय के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द करने वाले मज़दूरों की पहचान करके उनके ख़िलाफ़ झूठे मुक़दमे दर्ज करने की भी तैयारी कर रही थी।

यह घटना कारख़ाने के भीतर मज़दूरों के काम के बुरे हालात और प्रबन्धन की मज़दूरों की सुविधाओं के प्रति बेरुखी का नतीजा थी। कारख़ाने में हज़ारों मज़दूरों की शिक़ायत सुनने के लिए कम्पनी ने कोई अधिकारी तक नियुक्त नहीं किया था। दवा-इलाज का कोई प्रबन्ध नहीं। इस समय जब तापमान 45 डिग्री को पार कर रहा था तब भी पीने के लिए पानी तक मज़दूरों को नसीब नहीं हो रहा था। तेज़ धूप में मज़दूरों को लगातार काम करना पड़ता था। ऐसे में मज़दूरों की सहूलियतों के बारे में रत्तीभर भी ख़याल न करना उन्हें मौत के मुँह में धकेलने के समान है। इन्हीं हालात का शिकार हुआ भानु तिवारी जिसकी गर्मी के वजह से 28 जून रविवार को स्थिति बिगड़ गयी। भानु तिवारी के भाई हरीदत्त तिवारी और अन्य मज़दूरों ने बताया कि उसे 107 डिग्री बुख़ार था। उसे बुख़ार की मामूली गोली देकर गेट के बाहर छोड़ दिया गया। तीन घण्टे तक कारख़ाने की एम्बुलेंस का इन्तज़ार करने के बाद भानु की हालत और बिगड़ती देखकर उसके साथी ट्रैक्टर-ट्रॉली पर उसे नज़दीक के अस्पताल ले गये, जहाँ से उसे भटिण्डा सिविल अस्पताल भेज दिया गया। लेकिन वहाँ पहुँचने से पहले रास्ते में ही भानु की मौत ही गयी। कम्पनी की लापरवाही से भड़के भानु के परिवार के सदस्य और अन्य साथी उसकी लाश को कारख़ाना गेट पर ले आये। उन्होंने मुआवज़े और लाश को बिहार में स्थित गाँव पहुँचाने के इन्तज़ाम की माँग की। मौक़े पर पहुँचे पुलिस उच्चाधिकारियों की मौजूदगी में कारख़ाना प्रबन्धन ने मुआवज़ा देना माना। लेकिन अगली सुबह तक प्रबन्धन ने फिर कोई चिन्ता न दिखायी तो परिवारवाले लाश को फिर कारख़ाना गेट पर ले आये, लेकिन गेट पर पहले से ही पुलिस तैनात थी। पुलिस सुबह से ही किसी भी मज़दूर को कारख़ाने के भीतर नहीं जाने दे रही थी। कारख़ाना प्रबन्धन जब पुलिस का साथ देखकर मज़दूरों के साथ हाथापाई पर आ गया, तो मज़दूरों को ही कसूरवार ठहराते हुए पुलिस ने लाठीचार्ज शुरू कर दिया। कारख़ाना प्रबन्धन और पुलिस का रवैया देखकर मज़दूरों का गुस्सा फूट पड़ा। उन्होंने पुलिस का कड़ा जवाब दिया। प्रशासन ने अपनी ग़लती मानने की बजाय मज़दूरों को सबक़ सिखाने के मक़सद से चार ज़िलों की पुलिस और कमाण्डो फ़ोर्स को बुला लिया।

मज़दूरों द्वारा आवाज़ बुलन्द करने से कामयाबी यह हासिल हुई कि मृतक के परिवार को 4.5 लाख मुआवज़ा देना माना गया।

भानु की मौत गर्मी लगने से हुई। लेकिन ध्यान देने लायक़ बात यह है कि गर्मी से या ठण्ड से हमेशा ग़रीबों के मरने की ख़बरें ही आती हैं। कभी किसी महल में रहने वाले की मौत ठण्ड या गर्मी से हुई नहीं सुनी गयी। तो फिर मौत का कारण ग़रीबी हुआ। गर्मी या ठण्ड नहीं, क्योंकि मौसम की मार से बचने के लिए ग़रीबों के पास पर्याप्त कपड़े, सिर पर छत और ए.सी., कूलर तो दूर बहुत बार पंखा तक नहीं होता। गर्मी से बचने के लिए पक्षियों को भी छाँव नसीब होती है, लेकिन इंसानों को अपना पेट भरने के लिए भीषण गर्मी में झुलसना पड़ता है। असल में ग़रीबों को तो ग़रीबी का दैत्य निगल रहा है। भानु तिवारी भी गर्मी से नहीं मरा। वह तो रोज़ाना ग़रीबी की भेंट चढ़ने वाले सैकड़ों मेहनतकशों में से एक था।

अब हालत यह है कि मज़दूर काम के बुरे हालात और इससे भी अधिक पुलिस-मालिक गठबन्धन के आतंक के कारण काम छोड़कर जा रहे हैं।

यह घटना, जहाँ एक तरफ़; मज़दूरों की लगातार बढ़ रही लूट और असुरक्षा की पोल खोलती है जो पूँजीवादी व्यवस्था के अधीन मज़दूरों की असली हालत का बयान है, और पुलिस-प्रशासन, जो इस जनतन्त्र में जनता की रक्षा के लिए है, की असली अमीर-भक्ति का भी बड़ा उदाहरण है; दूसरी तरफ़ इस घटना के साथ मज़दूरों में एकजुटता की सहज चेतना, जो समूह में ही सुरक्षा मिल सकने की भावना पर ज़ोर देती है, की भी ज़ोरदार अभिव्यक्ति है। अपने एक साथी की मौत पर मज़दूरों की यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक वर्गीय और मानवीय प्रतिक्रिया है। बेशक़ आज सिर्फ़ अपने बारे में सोचने की शिक्षा बच्चों को बचपन से ही दी जाती है, लेकिन इतिहास गवाह है कि जालिम कभी भी लालच, साज़िश और दमन के दम पर इंसानियत को ख़त्म नहीं कर सकते। ज़रूरत है ऐसी घटनाओं को संगठित प्रतिरोध में बदलने की ताकि ऐसी घटनाओं की ज़मीन ही साफ़ कर दी जाये।

राजविंदर

दिल्ली मेट्रो की दुर्घटना में मज़दूरों की मौत का ज़िम्मेदार कौन?

डी.एम.आर.सी. और सरकार की हत्यारी नीतियाँ और ठेका कम्पनी की मुनाफ़ाख़ोर हवस

बिगुल संवाददाता

पिछली 12 जुलाई की सुबह दिल्ली के जमरूदपुर इलाक़े में मेट्रो रेल का बन रहा पुल गिर जाने से 6 मज़दूरों की मौत हो गयी और करीब 20 से 25 मज़दूर घायल हो गये जिनमें से कुछ की हालत गम्भीर है। उस जगह पर काम करने वाले मज़दूरों और उनके सुपरवाइज़र ने मेट्रो प्रशासन और ठेका कम्पनी गैमन को बहुत पहले ही बता दिया था कि इस जगह पर काम करना ख़तरे से ख़ाली नहीं है। पुल के एक खम्भे में कुछ महीने पहले दरार आ गयी थी जिसके चलते करीब दो महीने पहले काम रोकना पड़ा था। लेकिन 2010 के कॉमनवेल्थ गेम्स से पहले मेट्रो रेल का काम पूरा करके वाहवाही लूटने के चक्कर में मेट्रो प्रशासन ने ठेका कम्पनियों को मज़दूरों का शोषण करने, सभी श्रम क़ानूनों का उल्लंघन करने और तमाम सुरक्षा उपायों की अनदेखी करने की पूरी छूट दे रखी थी। इसीलिए ठेका कम्पनी गैमन इण्डिया ने मेट्रो प्रशासन के इंजीनियरों की जानकारी और इजाज़त से उस दरार की थोड़ी-बहुत मरम्मत करवाकर दो-तीन दिन पहले फिर से काम शुरू करा दिया। 11 जुलाई की रात भी पुल के टूटने के डर से काम को रोकना पड़ा था। लेकिन मुनाफ़े की हवस में अन्धी कम्पनी ने 12 जुलाई की सुबह 4.30 बजे फिर से काम शुरू करवा दिया। कुछ ही देर में दरार वाला खम्भा टूट गया और पुल में लगने वाला लोहे का कई सौ टन का लांचर टूटकर गिर पड़ा जिसके नीचे करीब 35 मज़दूर आ गये। इनमें से कुछ ने दुर्घटना स्थल पर ही दम तोड़ दिया और कुछ ने अस्पताल में दम तोड़ा। इस दुर्घटना के तुरन्त बाद दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन के प्रबन्ध निदेशक ई. श्रीधरन ने प्रेस कांफ्रेंस में इस्तीफ़ा देने की घोषण कर दी। जैसाकि तय ही था, शीला दीक्षित की सरकार ने इस्तीफ़ा नामंज़ूर कर दिया। साफ़ है कि यह इस्तीफ़ा इस भयंकर दुर्घटना से ध्यान हटाने के लिए की गयी एक नौटंकी था ताकि यह बात ही किनारे हो जाये कि यह हादसा हुआ कैसे और इसके लिए कौन ज़िम्मेदार है।

इस घटना के अगले ही दिन उसी जगह पर टूटे लांचर को हटाने के लिए लगायी गयी 4 क्रेनें पलट गयीं जिससे पूरा लांचर और ढेरों मलबा फिर नीचे गिर पड़े। इस दुर्घटना में तीन इंजीनियर और तीन मज़दूर घायल हो गये।

मेट्रो रेल के निर्माण में होने वाली यह पहली दुर्घटना नहीं है। इससे पहले अक्टूबर, 2008 में लक्ष्मीनगर, सितम्बर 2008 में चांदनी चौक और जुलाई 2008 में राममनोहर लोहिया अस्पताल के पास भी मेट्रो निर्माण स्थल पर दुर्घटनाएँ हो चुकी हैं, जिनमें बेगुनाह मज़दूर और नागरिक मारे गये थे। छोटी-छोटी दुर्घटनाओं की तो कोई गिनती ही नहीं है। एक घटना में तो मेट्रो के एक डम्पर ने सोते हुए मज़दूरों पर मिट्टी से भरा ट्रक पलट दिया था, जिससे कई मज़दूरों की दबकर मौत हो गयी थी। ऐसे में यह सोचने की बात है कि इन मौतों का ज़िम्मेदार कौन है?

दरअसल इस दुर्घटना को हादसा कहना ही ग़लत है। यह सीधे-सीधे उन बेगुनाह मज़दूरों की हत्या है जो इसमें मारे गये हैं। इन मज़दूरों को मेट्रो प्रशासन अपना कर्मचारी मानने से इंकार करके गैमन कम्पनी का कर्मचारी बताता है ताकि उनकी मौत की ज़िम्मेदारी से हाथ झाड़ सके। निर्माण मज़दूरों को कहीं भी मेट्रो प्रशासन ने कोई कर्मचारी पहचान कार्ड तक नहीं मुहैया कराया है। श्रम क़ानूनों को ताक पर रखकर इन मज़दूरों से 12 से 15 घण्टे तक काम कराया जाता है। इन्हें न तो न्यूनतम मज़दूरी दी जाती है और कई बार साप्ताहिक छुट्टी तक नहीं दी जाती। सरकार और मेट्रो प्रशासन ने दिल्ली का चेहरा चमकाने और कॉमनवेल्थ गेम्स से पहले निर्माण कार्य को पूरा करने के लिए ठेका कम्पनियों को मज़दूरों से जानवरों की तरह काम लेने की पूरी छूट दे दी है। मज़दूरों से अमानवीय स्थितियों में काम कराया जाता है। उनके काम की स्थितियों और सुरक्षा उपायों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है।

मेट्रो में काम करने वाले निर्माण मज़दूरों को डी.एम.आर.सी. ने कोई पहचान पत्र नहीं दिया है और वह उन्हें अपना मज़दूर तक नहीं मानता। जबकि क़ानूनन मेट्रो के निर्माण से प्रचालन तक में लगे सभी ठेका मज़दूरों का प्रमुख नियोक्ता (इम्प्लायर) डी.एम.आर.सी. है। इन मज़दूरों से 12 से 15 घण्टे तक अमानवीय परिस्थितियों में काम लिया जाता है क्योंकि दिल्ली को जल्दी से जल्दी 'वर्ल्ड क्लास सिटी' बनाना है। इनके कार्य की स्थितियाँ ऐसी हैं जिनमें काम करना एक इंसान के बूते की बात नहीं होती। इन मज़दूरों की सुरक्षा का कोई ख़याल नहीं रखा जाता। इन्हें सेफ़्टी हेल्मेट के नाम पर जो प्लास्टिक की टोपी दी जाती है वह भारी पत्थर की चोट तक नहीं रोक सकता। इस हेल्मेट के अतिरिक्त इतना ख़तरनाक काम करने के बावजूद उन्हें बचाव के लिए और कुछ नहीं दिया जाता है। अगर यह कहा जाये कि ये मज़दूर अपनी जान पर खेलकर मेट्रो को बना रहे हैं तो ग़लत नहीं होगा।

कारपोरेट जगत की आँखों के तारे बने श्रीधरन महोदय से पूछा जाना चाहिए कि इन मज़दूरों को ठेका कम्पनियों की मुनाफ़े की हवस के भरोसे छोड़ देने के समय उनकी नैतिकता कहाँ चली गयी थी?

इस हादसे के दो दिनों बाद ही 14 जुलाई की सुबह मुम्बई मेट्रो का भी पिलर गिर गया। यहाँ पर भी गैमन इण्डिया काम करवा रही थी। यही वह ठेका कम्पनी है जिसके द्वारा निर्मित एक फ़्लाईओवर पिछले वर्ष हैदराबाद में ध्वस्त हो गया था जिसमें दो लोगों की मौत हो गयी थी। गैमन इण्डिया द्वारा बनाये गये कई ढाँचे पिछले सालों के दौरान क्षतिग्रस्त हो चुके हैं। इन सबके बावजूद गैमन इण्डिया को हमेशा 'क्लीन चिट' मिल गयी। इसी से ठेका कम्पनियों और सरकार में बैठे अधिकारियों के अपवित्र गठबन्धन के बारे में साफ़ पता चल जाता है।

श्रम क़ानूनों का यह नंगा उल्लंघन सिर्फ़ निर्माण मज़दूरों के साथ ही नहीं हो रहा है। मेट्रो में काम करने वाले समस्त ठेका मज़दूरों के श्रम अधिकारों का डी.एम.आर.सी. और ठेका कम्पनियाँ इसी बेशर्मी के साथ मखौल उड़ा रही हैं। कुछ और तथ्यों पर निगाह डालिये। मेट्रो स्टेशनों और डिपो पर काम करने वाले करीब 3000 सफ़ाई कर्मचारी नौ ठेका कम्पनियों के तहत काम कर रहे हैं, जिन्हें 2800 से 3300 रुपये तक तनख़्वाह मिलती है, जबकि क़ानूनन उनकी तनख़्वाह 5300 रुपये होनी चाहिए। इस पर जब मज़दूरों ने 'मेट्रो कामगार संघर्ष समिति' बनाकर आन्दोलन किया तो आन्दोलन में शामिल मज़दूरों को डी.एम.आर.सी. और ठेका कम्पनियों ने निकालना शुरू कर दिया। जब इससे भी बात नहीं बनी तो दिल्ली प्रशासन के साथ मिलकर डी. एम.आर.सी. ने उन्हें दो दिनों के लिए जेल में भी डलवाया। यह आन्दोलन अभी भी जारी है।

इस तरह के सैकड़ों आँकड़े गिनाये जा सकते हैं जिसके ज़रिये डी.एम.आर.सी. और ठेका कम्पनियों द्वारा श्रम क़ानूनों, सुरक्षा उपायों और कार्य-स्थितियों की उपेक्षा का प्रमाण मिलता है। यह कोई अनजाने में होने वाली उपेक्षा नहीं है। इसके पीछे डी.एम.आर.सी. और ठेका कम्पनियों की मुनाफ़े की हवस और उनका भ्रष्टाचार है।

इस पूरे मामले पर लीपापोती करने वाली आन्तरिक जाँच नहीं बल्कि उच्चस्तरीय न्यायिक जाँच करायी जानी चाहिए और दोषियों के ख़िलाफ़ सख़्त से सख़्त क़ानूनी कार्रवाई की जानी चाहिए। इस दुर्घटना के लिए ज़िम्मेदार डी.एम.आर.सी. के उन अधिकारियों को तत्काल बर्ख़ास्त किया जाना चाहिए, जिन्होंने पिलर संख्या 66 के निर्माण कार्य को जारी रखने की अनुमति दी और उनके ख़िलाफ़ आपराधिक मामला दर्ज किया जाना चाहिए। गैमन इण्डिया के उन अधिकारियों के ख़िलाफ़ आपराधिक मामला दर्ज किया जाना चाहिए जो इस पुल के निर्माण को देख रहे थे। इतना ही नहीं, गैमन इण्डिया का ठेका तत्काल रद्द करके उसे ब्लैकलिस्ट कर दिया जाना चाहिए। मेट्रो रेल प्रशासन को सभी परियोजनाओं की देखरेख और समीक्षा करने वाली ऐसी समिति बनानी चाहिए जिसमें तकनीकी विशेषज्ञों के साथ ही और नागरिक प्रतिनिधि भी शामिल हों। और इन सबसे भी ज़्यादा ज़रूरी है कि मेट्रो रेल से ठेका प्रथा को ख़त्म किया जाये तथा सभी कामगारों को उनके जायज़ अधिकार दिये जायें।

गोरखपुर में तीन कारख़ानों के मज़दूरों के एकजुट संघर्ष की शानदार जीत

(पेज 12 से आगे)

की माँगें तो मान लीं लेकिन कपड़ा मिल मज़दूरों को लटका दिया। उसने माँगें मानने के लिए यह शर्त लगा दी कि मज़दूरों को उत्पादन बढ़ाने के उसके प्रस्ताव को मानना पड़ेगा। टालमटोल करने के बाद 4 जुलाई को फ़ैक्टरी के अन्दर वार्ता हुई जिसमें शहर के कुछ छुटभैया गुण्डे किस्म के नेता भी मौजूद थे। मज़दूरों ने उसके कार्य प्रस्ताव के जवाब में लिखकर दे दिया कि वह 18 घण्टे के काम को 8 घण्टे में कराना चाहता है जो असम्भव है। 5 जुलाई की शाम को बरसात में भीगते हुए तीनों कारख़ानों के मज़दूरों ने पूरे बरगदवा इलाक़े में ज़बरदस्त एकता जुलूस निकाला। 6 जुलाई को डीएलसी कार्यालय में तय वार्ता में मालिक नहीं आया। फिर 9 जुलाई को वार्ता तय हुई लेकिन इसी बीच बौखलाहट में 8 जुलाई को बौखलाये मालिक ने मज़दूर नेताओं पर कातिलाना हमला कर दिया। इस घटना ने मज़दूरों के सामने एक बार फिर साफ़ कर दिया कि पुलिस-प्रशासन, सब किस तरह से उनके ख़िलाफ़ पैसेवालों का साथ देते हैं। मज़दूरों पर जानलेवा हमला करने वाले मालिक के ख़िलाफ़ एफ़आईआर को कमज़ोर बनाने के लिए चिलुआताल थाने की पुलिस ने 307 (हत्या का प्रयास) की धारा ही हटा दी जबकि मालिक की ओर से 8 मज़दूरों के ख़िलाफ़ धारा 307 के तहत फ़र्जी मुकदमा दर्ज कर लिया। बुरी तरह घायल मज़दूरों का मेडिकल करते समय ज़िला अस्पताल का डॉक्टर बार-बार कह रहा था कि तुम लोग नाटक कर रहे हो, जबकि मालिक के आदमियों को चोट का फ़र्जी सर्टिफ़िकेट बना दिया गया। बहरहाल, ऐसी किसी भी कोशिश से मज़दूर न डरे, न हताश हुए बल्कि उनकी एकजुटता और ठोस हो गयी। मज़दूरों ने कमिश्नर और डीआईजी से मिलकर अजितसरिया की गिरफ़्तारी के लिए दबाव बनाना शुरू कर दिया। लेकिन कमिश्नर द्वारा ज़िलाधिकारी को निर्देश देने के बावजूद उसे गिरफ़्तार नहीं किया गया, क्योंकि गोरखपुर के भाजपा सांसद योगी आदित्यनाथ सहित स्थानीय नेताओं का उस पर वरदहस्त था। इस बीच मज़दूर नेताओं पर हमले के विरोध में गोरखपुर शहर के कई संगठनों और बुद्धिजीवियों ने बयान दिये तथा अधिकारियों को फ़ोन करके भी आक्रोश जताया। दिल्ली से मेट्रो कामगार संघर्ष समिति, बादाम मज़दूर यूनियन, जागरूक नागरिक मंच, बिगुल मज़दूर दस्ता आदि संगठनों ने हमले के विरोध में उत्तर प्रदेश की मुख्यमन्त्री तथा ज़िला प्रशासन के अधिकारियों को फ़ैक्स भेजकर मिलमालिक को तत्काल गिरफ़्तार करने की माँग की।

आख़िरकार 13 जून को काफ़ी हीलाहवाली के बाद मालिक वार्ता में आया और काम के घण्टे आठ करने, सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी देने, वेतन सहित साप्ताहिक और अर्जित अवकाश देने, 24 घण्टे पहले वेतन-स्लिप देने, ज़रूरी सुरक्षा उपकरण मुहैया कराने तथा महँगाई भत्ता व बोनस का नियम से भुगतान करने पर राजी हुआ।

●

पिछले कई वर्षों से गोरखपुर ही नहीं, नोएडा और दिल्ली सहित देश भर में मज़दूर अधिकांश लड़ाइयाँ हारते रहे हैं। इसकी सबसे बड़ी वजह है उनका बिखराव। जो पुरानी यूनियनें हैं वे ज़्यादातर बड़े कारखानों के सफ़ेदपोश मज़दूरों तक सिमट चुकी हैं। लाखों छोटे-छोटे कारखानों में बेहद कम मज़दूरी पर खट रहे नियमित, दिहाड़ी, ठेका, तरह-तरह के टेम्परेरी और कैजुअल मज़दूरों के हितों की ये नुमाइन्दगी ही नहीं करतीं – जबकि ये मज़दूर देश की कुल मज़दूर आबादी के 95 प्रतिशत से भी ज़्यादा हैं। सबसे बर्बर शोषण और उत्पीड़न के शिकार इन करोड़ों मज़दूरों को किस्म-किस्म के दल्ले, भ्रष्ट यूनियन नेता और चुनावी पार्टियों के स्थानीय नेता भरमाते-बरगलाते रहते हैं। सरकारी नीतियाँ मिल-मालिकों को लूट की खुली छूट देती हैं। लेबर कोर्ट से लेकर हाई कोर्ट-सुप्रीम कोर्ट तक में ज़्यादातर फ़ैसले मालिकों के पक्ष में और मज़दूरों के ख़िलाफ़ होते हैं। पुलिस-प्रशासन, नेता-अफ़सर सब मालिकों के पक्ष में एक हो जाते हैं। अख़बार और टीवी भी उन्हीं की भाषा बोलते हैं।

ऐसे में ज्यादातर मज़दूर भी मान बैठे हैं कि हमें तो इन्हीं हालात में नर्क के गुलामों की ज़िन्दगी बसर करते हुए अपनी हड्डियाँ निचोड़कर मालिक की तिजोरी भरते रहना है। सच तो यह है कि कुछ महीने पहले तक इन तीन कारख़ानों के मज़दूर भी बहुत पस्ती के शिकार थे – लेकिन मालिकान ने पीछे धकेलते-धकेलते उन्हें इस क़दर कोने में पहुँचा दिया कि अब और पीछे नहीं हटा जा सकता था। तब उन्होंने संगठित होकर लड़ने का फ़ैसला किया। उनके पास संगठित संघर्ष का ज़्यादा अनुभव भी नहीं था लेकिन वे अपनी एकजुटता की ताक़त के बूते पर लड़े और जीते।

अब मज़दूरों को अपने संगठित होने के इस सिलसिले को अगली मंजिल में ले जाना होगा। वे यहीं पर रुक नहीं सकते। बरगदवा से लेकर गीडा, सहजनवा ही नहीं पूरे पूर्वी उत्तर प्रदेश के मेहनतकशों को अपने-अपने कारखानों-इलाकों में एकजुट और संगठित होने की प्रक्रिया शुरू करनी होगी। दलाल, मक्कार, नकली, भूजाछोर मज़दूर नेताओं को किनारे लगाकर अपने जुझारू संगठन बनाने होंगे और एकजुट होकर आगे बढ़ना होगा। अगर मज़दूर एक रहेंगे तो मालिक-मैनेजमेंट और उनके पिट्ठू अफ़सरान उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। अपने हक़ की लड़ाई वे शानदार तरीके से जीतेंगे। गोरखपुर के इस सफल मज़दूर संघर्ष का यही सबसे बड़ा सबक है।

●

कॉमरेड हरभजन सिंह सोही को क्रान्तिकारी श्रद्धांजलि

बिगुल प्रतिनिधि

देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की एक अज़ीम हस्ती कॉमरेड हरभजन सिंह सोही अब हमारे बीच नहीं रहे। इस देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी हलकों में कॉमरेड हरभजन का नाम किसी परिचय का मोहताज नहीं है। देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन ने जिन चन्द एक बेहद मेधावी नेताओं को जन्म दिया है, उनमें से एक थे कॉमरेड हरभजन।

16 जून 2009 की सुबह कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए एक सदमा लेकर आयी। 15 जून की रात को का. हरभजन अचानक दिल का दौरा पड़ने से क्रान्तिकारी काफिले से सदा के लिए बिछड़ गये। इस समय वे कम्युनिस्ट पार्टी रीआरगेनाईजेशन सेण्टर ऑफ़ इण्डिया (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) के सचिव थे। कॉमरेड सोही का तमाम जीवन इस देश के मेहनतकश तथा उत्पीड़ित जनों की मुक्ति के महान संग्राम को समर्पित था।

कॉमरेड हरभजन का जन्म 28 मार्च 1942 को पंजाब के संगरूर ज़िले के गाँव भड़ी में एक छोटे पुलिस अधिकारी तेजा सिंह के घर में हुआ। जवानी की दहलीज पर क़दम रखते ही मेहनतकश तथा उत्पीड़ित जन समूहों की मुक्ति उनके जीवन का आदर्श बन चुकी थी। वे मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा के गहन अध्ययन तथा क्रान्तिकारी गतिविधियों में जुट गये। पंजाब विश्वविद्यालय पटियाला से अंग्रेज़ी से एम.ए. करने के बाद राजिन्दर कॉलेज, भटिण्डा में हासिल की लेक्चरर की नौकरी को एक साल बाद ही ठुकरा दिया तथा पेशेवर क्रान्तिकारी जीवन का चुनाव किया।

का. हरभजन के राजनीतिक जीवन की शुरुआत सी.पी.एम. के एक कार्यकर्ता के रूप में हुई। कुछ समय तक वे इस पार्टी के पंजाबी भाषा में निकलने वाले अख़बार 'लोक लहर' के सम्पादन से भी जुड़े रहे। उन्हीं दिनों देश के भीतर नक्सलबाड़ी की किसान बग़ावत तथा पूरे विश्व में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की गूँज सुनायी दे रही थी। पच्छिम बंगाल से उठे नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह को हुक्मरान सीपीएम ने बेरहमी से कुचलने की राह पकड़ी। इस पार्टी के चरित्र पर तो क्रान्तिकारी क़तारों के मनों में पहले से ही सवाल उठे हुए थे, लेकिन नक्सलबाड़ी के किसान विद्रोह को कुचलने से इस पार्टी की असल खसलत और भी नंगी हो गयी।

कॉमरेड हरभजन ने सीपीएम के ख़िलाफ़ बग़ावत की, एक सही क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के गठन के लिए प्रयासरत कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की क़तारों में शामिल हो गये। ये कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी उस समय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी में संगठित थे। बाद में कुछ समय तक का. हरभजन नव गठित भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) में भी सक्रिय रहे।

कॉमरेड हरभजन सिंह सोही

1951 से, जब से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने संशोधनवाद का रास्ता पकड़ा, लेकर 1967 तक, जब तक नक्सलबाड़ी आन्दोलन शुरू हुआ, भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन संशोधनवाद के गड्ढे में गिरा रहा। नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह का झण्डा उठाने वाले कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद किया। नक्सलबाड़ी ने भारत के मेहनतकशों तथा क्रान्तिकारी क़तारों में एक नयी उम्मीद जगायी थी। लेकिन जल्द ही इस आन्दोलन पर चारू मजूमदार की वामपन्थी दुस्साहसवादी लाइन के हावी हो जाने से ये उम्मीदें टूटने लगीं। चारू मजूमदार ने वर्ग शत्रुओं के सफ़ाये को वर्ग-संघर्ष का उच्चतम रूप होने का नायाब सिद्धान्त पेश किया। उन्होंने सशस्त्र संघर्ष को वर्ग-संघर्ष का एकमात्र रूप घोषित कर दिया। हर तरह के जनसंघर्ष तथा जनसंगठनों के निर्माण की अर्थवादी संशोधनवाद कहकर भर्त्सना की।

कॉमरेड हरभजन शुरू से ही इस वामपन्थी दुस्साहसवादी लाइन के ख़िलाफ़ थे। जनता की मुक्ति सशस्त्र संघर्ष से ही होगी, संसदीय मार्ग से नहीं। इस मार्क्सवादी सत्य में उनका दृढ़ विश्वास था। लेकिन उनका कहना था कि साधारण जनता से टूटा हुआ कोई भी सशस्त्र संघर्ष कभी कामयाब नहीं हो सकता। ऐसा संघर्ष क्रान्तिकारी आन्दोलन को लाभ के बजाय नुक़सान ही पहुँचाता है। सशस्त्र संघर्ष वर्ग-संघर्ष का एक उच्चतम रूप है। मेहनतकश जनता को वर्ग-संघर्ष के उच्चतम मुकाम तक ले जाने के लिए उसे जगाना होगा, संगठित तथा गोलबन्द करना होगा। जनता के अलग-अलग हिस्सों के जनसंगठन बनाकर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को उसके रोज़मर्रा के संघर्षों में भागीदारी करनी होगी।

कॉमरेड हरभजन ने पूरी दृढ़ता के साथ चारू मजूमदार की वामपन्थी दुस्साहसवादी लाइन का विरोध किया तथा जनदिशा पर अडिग रहे। ऐसे समय में जब कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन में वामपन्थी आन्दोलन का बोलबाला था, जनदिशा की बात करने वालों पर ग़द्दार, भगोड़े तथा क़ायर होने के लेबल चस्पाँ किये जाते थे। कॉमरेड हरभजन पर भी ये सारे लेबल चस्पाँ किये गये। लेकिन उन्होंने इन सबकी कोई परवाह नहीं की। 1970 के शुरू में ही उन्होंने चारू के नेतृत्व में वामपन्थी दुस्साहसवादी लाइन पर चल रही सीपीआई (एमएल) से नाता तोड़ लिया। जनदिशा की अपनी लाइन को व्यवहार में लागू करने के लिए उन्होंने कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की भटिण्डा-फिरोज़पुर कमेटी का गठन किया। बाद में उन्होंने इसका नाम पंजाब कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कमेटी रखा। उन्होंने वामपन्थी दुस्साहसवाद के ख़िलाफ़ सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों धरातलों पर संघर्ष जारी रखा तथा इसे शिकस्त दी। पंजाब कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कमेटी ने जल्द ही छात्रों, युवाओं, मज़दूरों, किसानों के जनसंगठनों का निर्माण शुरू किया तथा इनके नेतृत्व में बड़े-बड़े जन आन्दोलन लड़े गये, जिनमें 1972 का ऐतिहासिक मोगा आन्दोलन भी शामिल है।

उधर सीपीआई (एमएल) की वामपन्थी दुस्साहसवादी लाइन व्यवहार में बुरी तरह पिट गयी। बाद में इन्हें भी जनसंगठनों तथा जनसंघर्षों की ज़रूरत महसूस होने लगी। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन के ऐसे नाजुक समय में का. हरभजन ने कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को एक नयी राह दिखायी। वामपन्थी दुस्साहसवाद के ख़िलाफ़ उनका संघर्ष तथा जनसंगठनों के निमार्ण पर उनकी शिक्षाएँ आज भी पहले जितनी ही प्रासंगिक हैं। क्योंकि वामपन्थी दुस्साहसवाद का ख़तरा अभी भी टला नहीं है तथा आने वाले समय में भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन में यह ख़तरा किसी न किसी रूप में सिर उठाता रहेगा। और ऐसे में कॉमरेड हरभजन की शिक्षाएँ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की नयी पीढ़ियों का मार्गदर्शन करती रहेंगी।

1976 में कॉमरेड माओ की मौत के बाद चीन की राज्यसत्ता पर संशोधनवादी देङ गुट ने क़ब्ज़ा कर लिया। देङ गुट ने तीन दुनिया के सिद्धान्त के नाम पर अमेरिकी साम्राज्यवाद से गठबन्धन की वकालत शुरू कर दी। भारत में अनेक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन इस नयी घटना को समझ सकने में नाकाम रहे। कॉमरेड हरभजन भारत के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने देङ गुट की संशोधनवादी खसलत को सबसे पहले पहचाना। इस तरह पूरे विश्व के पैमाने पर एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सवाल पर उन्होंने कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का मार्गदर्शन किया।

का. हरभजन एक मेधावी कम्युनिस्ट सिद्धान्तकार, एक सक्षम संगठनकर्ता के साथ एक बड़े कवि भी थे। उन्होंने अपनी कविताओं, गीतों तथा आलोचनात्मक लेखों से पंजाबी साहित्य को समृद्धि प्रदान की।

कॉमरेड हरभजन भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में स्वस्थ परम्पराएँ विकसित करने के लिए जीवनभर संघर्ष करते रहे। कुत्सा प्रचार की राजनीति भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास पर एक कलंक की तरह है जो आज भी इसका पीछा नहीं छोड़ रही। राजनीतिक विरोधियों से स्वस्थ राजनीतिक-वैचारिक संघर्ष करने के बजाय उन पर व्यक्तिगत हमले करना तथा उनका चरित्रहनन करने तक उतर आना आज तक यहाँ के आन्दोलन में जारी है। कॉमरेड सोही भी ऐसे कुत्सा प्रचार, चरित्रहनन के शिकार होते रहे हैं। लेकिन खुद उन्होंने राजनीतिक संघर्ष में कभी इसका सहारा नहीं लिया। उनका कहना था कि राजनीति फ़ौजी नीति की तरह नहीं होती। जंग में हम दुश्मन की सबसे कमज़ोर जगह पर हमला करते हैं, लेकिन राजनीति में विरोधी के सबसे मज़बूत पक्ष यानी राजनीति पर हमला करते हैं।

एक ओर जहाँ कॉमरेड हरभजन ने बहुत ही नाजुक दौरों में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का मार्गदर्शन किया, अनेकों राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय मुद्दों पर ठीक स्टैण्ड लिया, वहीं यह एक दुख की बात है कि तमाम बौद्धिक क्षमता के बावजूद वे भारतीय अर्थव्यवस्था में, यहाँ के उत्पादन सम्बन्धों में आये बदलावों को नहीं समझ सके जिससे सही लाइन पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एकता की प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ पायी।

भारतीय समाज के चरित्र, क्रान्ति की मंज़िल, रणनीति आदि तमाम सवालों पर उनसे मतभेदों के बावजूद हम दिल की गहराइयों से उनके प्रति अपना आदर प्रकट करते हैं तथा उनके क्रान्तिकारी जीवन को सलाम करते हैं।

ग़रीबों को राहत योजनाओं के हवाई गुब्बारे थमाकर पूँजीपतियों की लूट के मुकम्मल इन्तज़ाम!!

(पेज 1 से आगे)

दूसरी तरफ स्वास्थ्य और शिक्षा जैसी जनता की बुनियादी ज़रूरतों के मामलों में वह एशिया के कई छोटे-छोटे देशों से भी पीछे है।

जनता को लुभाने वाली कुछ योजनाओं की आड़ में सरकार ने विनिवेश की धीमी पड़ी प्रक्रिया को फिर तेज़ी से चलाने की घोषणा कर दी है। सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों को बेचकर पहले ही साल में 25,000 करोड़ रुपये जुटाने का लक्ष्य रखा गया है। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए सभी कम्पनियों के कम से कम 10 प्रतिशत शेयर बेचे जायेंगे। ख़ास तौर पर, मुनाफ़ा देने वाली कम्पनियों और नवरत्न कम्पनियों के शेयर भी बेचे जायेंगे।

सत्ता में आने के साथ ही कांग्रेस ने बता दिया थौ कि पूँजीवादी आर्थिक विकास की दीर्घकालिक नीतियों को वह अब ज़्यादा सधे कदमों से लागू करेगी। बजट में आधारभूत ढाँचे को मज़बूत करने के लिए जो घोषणाएँ की गयी हैं उनका मकसद पूँजीपतियों के लिए लूट के साधनों को और मुकम्मल करना है। साथ ही मन्दी की मार से जूझ रही अर्थव्यवस्था में कुछ जान फूँकने की कोशिश में सरकारी ख़ज़ाने से ख़र्च को बढ़ाने की योजनाएँ पेश की गयी हैं। इनसे दोहरा फ़ायदा होगा। पूँजीपतियों की दूरगामी ज़रूरतों को पूरा करने का काम भी होगा और ग़रीबों को कुछ राहत देकर उनके असन्तोष को कुछ देर टाला भी सकेगा। ऊपर से तुर्रा यह कि इन तमाम योजनाओं के लिए खर्च होने वाली भारी धनराशि भी जनता से ही उगाही जायेगी। लेकिन पूँजीवादी नीतियों के अपने ही तर्क से यह सिलसिला ज़्यादा दिनों तक नहीं चल सकेगा।

पूँजीवादी उत्पादन की इसी प्रक्रिया यानी पूँजीपतियों की मुनाफ़े और पूँजी संचय की अँधी हवस का नतीजा आज हमारे देश में देखने को मिल रहा है। सकल घरेलू उत्पाद की लगातार बढ़ती वृद्धि दर लेकिन आम मेहनतकश जनता की बढ़ती दरिद्रता—ये दो विरोधी सच्चाइयाँ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। भूमण्डलीकरण के इस दौर में राष्ट्रीय आय में पूँजीपति वर्ग और उसके लग्गुओं-भग्गुओं का हिस्सा लगातार बढ़ता गया है और मेहनतकशों का घटता गया है। केन्द्र और राज्य की सभी सरकारें आज देशी-विदेशी पूँजीपतियों को मेहनतकशों के शोषण की मनमानी छूट देने के साथ ही करों में भी बेतहाशा छूटें देकर उनकी तिजोरियाँ भरने के मौके दे रही हैं। इससे सरकारी खज़ाने को प्रतिवर्ष जो नुकसान हो रहा है उसकी भरपाई के लिये आम जनता को विभिन्न प्रकार के अप्रत्यक्ष करों से लाद दिया गया है।

आँकड़ों में तो महँगाई की दर बेहद नीचे आ चुकी है लेकिन महँगाई का आलम यह है कि अब इसकी मार सीधे ग़रीब आबादी के पेट पर पड़ रही है। मेहनतकश जनता को यह समझना होगा कि उनकी बदहाली का बुनियादी कारण देश की मौजूदा पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली है। पूँजीपतियों के लगातार बढ़ते मुनाफ़े या मुट्ठीभर ऊपरी धनी तबके की खुशहाली का कारण मज़दूरों का दिनोदिन बढ़ता शोषण है। किसी मज़दूर के लिए यह समझना कठिन नहीं कि अपनी श्रमशक्ति का उपयोग कर वह केवल उतना मूल्य नहीं पैदा करता जितना मज़दूरी के रूप में उसे मिलती है। वह तो उसके द्वारा पैदा किये गये मूल्य का एक छोटा हिस्सा ही होता है। बाकी हिस्सा पूँजीपति हड़प कर जाता है जिसे न केवल वह अपनी विलासिता पर खर्च करता है बल्कि पूँजी संचय कर और अधिक मुनाफ़ा कमाता जाता है और मज़दूर दरिद्र से दरिद्रतर होता जाता है। मज़दूर के जीवनयापन के लिए जरूरी वस्तुओं की कीमतों में बढ़ोत्तरी की तुलना में उसकी वास्तविक आय में बढ़ोत्तरी इतनी कम होती है कि उसे आधे पेट सोने पर मजबूर होना पड़ता है।

यूपीए सरकार के सौ दिन के एजेण्डा की असलियत जल्दी ही सामने आ जायेगी। पूँजीवाद के हितैषी विचारक चाहकर भी पूँजी की मूल गति को अपना काम करने से रोक नहीं सकेंगे। अतिरिक्त मूल्य निचोड़ते जाने के तर्क से मुट्ठी भर लोगों के पास सम्पत्ति का पहाड़ इकट्ठा होता जायेगा और भारी आबादी ग़रीबी में डूबती जायेगी। मेहनतकश वर्ग के सच्चे हिरावलों को आम मेहनतकश आबादी को समझाना होगा कि इस लुटेरी व्यवस्था में उनके लिए कोई उम्मीद नहीं बची है और इसे ध्वस्त कर समाज के ढाँचे का नये सिरे से निर्माण करने के लिए लड़ने के सिवा कोई विकल्प नहीं है। ●

ग्लोबल सिटी दिल्ली में बच्चों की मृत्यु दर दोगुनी हो गयी है!

दिल्ली को तेज़ी से आगे बढ़ते भारत की प्रतिनिधि तस्वीर बताया जाता है। वर्ष 2010 में पूरी दुनिया के सामने कॉमनवेल्थ खेलों के ज़रिये हिन्दुस्तान की तरक़्क़ी के प्रदर्शन की तैयारी भी ज़ोर-शोर से चल रही है। दिल्ली को ग्लोबल सिटी बनाने के लिए जहाँ दिल्ली मेट्रो चलायी गयी है, वहीं सड़कों-लाइटों से लेकर आलीशान खेल परिसर और स्टेडियमों तक हर चीज़ का कायापलट करने की कवायद भी चल रही है। लेकिन करोड़ों-अरबों रुपया पानी की तरह बहाने वाली सरकार ग़रीबों की बुनियादी सुविधाओं के प्रति कितनी संवेदनहीन है, इसका एक नमूना इस तथ्य से मिल सकता है कि दिल्ली में एक साल से कम उम्र के बच्चों की शिशु मृत्यु दर पिछले दो सालों में थोड़ी-बहुत नहीं सीधे 50 प्रतिशत बढ़ गयी है। यानी दिल्ली में पैदा होने वाले बच्चों में से मरने वाले बच्चों की संख्या दोगुनी हो गयी है!

ज़ाहिर है मरने वाले ज़्यादातर बच्चे ग़रीब परिवारों के होते हैं। दिल्ली में होने वाला दवा-इलाज इतना महँगा होता जा रहा है कि ग़रीब आदमी निजी अस्पताल-क्लीनिक में जाने की सोच भी नहीं पाता। और सरकारी अस्पतालों की हालत इतनी ख़राब है कि वहाँ मरीज़ की जान की कोई गारण्टी नहीं है। लेकिन ग़रीब आबादी फिर भी इन्हीं बदहाल अस्पतालों में जाती है।

दिल्ली की आर्थिक सर्वेक्षण रिपोर्ट के मुताबिक़ वर्ष 2005 में शिशु मृत्यु दर 12.9 प्रतिशत थी, जोकि वर्ष 2007 में 25.4 प्रतिशत यानी 2005 की तुलना में लगभग दोगुनी हो गयी है। संख्या के लिहाज से देखें तो वर्ष 2004 में मरने वाले बच्चों की संख्या जहाँ 4,000 थी, वहीं वर्ष 2007 में यह लगभग 8,000 पर पहुँच गयी। संयुक्त राष्ट्र के विकास सम्बन्धी पैमाने के हिसाब से शिशु मृत्यु दर को किसी देश या राज्य का बेहद महत्त्वपूर्ण सूचक माना जाता है। वैसे भी किसी देश या राज्य की तरक़्क़ी का सीधा-सा पैमाना यह है कि वहाँ के लोगों को किसी स्तर की बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध हैं। बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाओं में भी सबसे ज़्यादा ध्यान जन्म लेने वाले बच्चों और उनकी माँओं के स्वास्थ्य पर दिया जाता है। इस लिहाज से दिल्ली की असली तस्वीर यह उभरती है कि यहाँ ग़रीबों के लिए स्वास्थ्य सुविधाएँ बदतर हालत में पहुँच गयी हैं।

वैसे यह सिर्फ़ दिल्ली की स्थिति नहीं है। कमोबेश सभी बड़े शहरों में ग़रीब आबादी के लिए स्वास्थ्य सेवाओं की बदहाली जगज़ाहिर है। 'बिगुल' के मई अंक में हमने प्रवासी मज़दूरों के बड़े शहरों की बजाय गाँव में इलाज कराने की एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी। बड़े शहरों के अस्पताल अब नाम के लिए ग़रीबों के लिए रह गये हैं। असलियत यह है कि यहाँ ग़रीबों के लिए सिवा इमारत के कुछ नहीं बचा है। न डॉक्टर समय पर आते हैं, न दवाइयाँ मिलती हैं, ज़रूरी साजो-सामान जंग खाता रहता है और मरीज़ धक्के खाते रहते हैं।

दिल्ली सरकार का इस ऊँची मृत्यु दर पर अजीबोग़रीब तर्क सामने आया है। उसका कहना है कि यह ऊँची मृत्यु दर इस विशेष वर्ष में दिल्ली के बाहर से आने वाले लोगों की संख्या में वृद्धि के कारण है। दिल्ली में प्रवासी मज़दूरों का आना कोई नयी बात नहीं है। सालों से दिल्ली में बाहर से लोग काम करने आते हैं। पिछले दो वर्ष के आँकड़े बताते हैं कि प्रवासी मज़दूरों की लगभग उतनी ही संख्या इस दौरान भी आयी। यानी इन दो वर्षों में प्रवासी मज़दूरों की कोई असामान्य वृद्धि नहीं हुई। इसलिए सरकार का यह तर्क तो सिरे से ग़लत हो जाता है। वैसे यह वही बात है जो कुछ साल पहले दिल्ली सरकार की मुख्यमन्त्री ने कहा था कि दिल्ली के संसाधनों पर बाहर से आने वाले लोगों का बोझ पड़ रहा है। वह शायद भूल जाती हैं कि जिन सड़कों, इमारतों, फ़्लाईओवरों और मेट्रो को वे अपनी उपलब्धि बताती हैं, वे इन्हीं प्रवासी मज़दूरों ने अपने ख़ून-पसीने और मेहनत से बनाये हैं। प्रवासी मज़दूरों के बिना दिल्ली के सारे निर्माण कार्य ही नहीं, सारा कारोबार भी ठप्प पड़ जायेगा। इस बात से पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी के तौर पर काम कर रही सरकार का मज़दूरों के प्रति दोहरा रवैया भी साफ़ हो जाता है। जब इन मज़दूरों की ज़रूरत होती है तो इन्हें दूर-दराज़ से लाया जाता है और फिर इन्हें बोझ बताने लगते हैं। इन्हीं मज़दूरों से सस्ती मज़दूरी पर काम कराया जाता है और इन्हीं के सिर पर दिल्ली की तमाम बदइन्तज़ामियों का ठीकरा भी फोड़ दिया जाता है।

इसके अलावा बढ़ी हुई मृत्यु दर के लिए सरकार ने अनपढ़ माता-पिता को ही ज़िम्मेदार ठहरा दिया। वैसे दिल्ली में साक्षरता दर काफ़ी ऊँची (लगभग 84 प्रतिशत) है। फिर भी अगर मान लिया जाये कि ज़्यादातर ग़रीब माता-पिता अनपढ़ होते हैं तो बच्चों की मौत की वजह सरकारी स्वास्थ्य सुविधाओं की बदहाली है या उनका पढ़ा-लिखा न होना। लगता है, सरकार अभी भी यह मानती है कि लोग अपने बच्चों का दवा-इलाज डॉक्टरों से नहीं टोने-टोटकों और ओझाओं से करवाते हैं। साफ़ है कि यह भी अपनी ग़लती छुपाने के लिए गढ़ी गयी बात है।

वैसे दिल्ली सरकार स्वास्थ्य के मामले में बड़े-बड़े दावे करती नज़र आती है। प्रचार माध्यमों में बेहतर होती स्वास्थ्य सुविधाओं की सुनहरी तस्वीर पेश की जाती है। बजट में भी दिल्ली सरकार जीडीपी का 9 प्रतिशत स्वास्थ्य पर ख़र्च करती नज़र आती है। वर्ष 2008 के लिए दिल्ली में स्वास्थ्य सुविधाओं पर 873.70 करोड़ ख़र्च करने का प्रावधान किया गया है जो राजधानी की विशाल ग़रीब आबादी के लिहाज से ऊँट के मुँह में जीरे के समान है। वैसे यह बात भी ग़ौर करने वाली है कि इस धनराशि के भी सही जगह सही तरीक़े से इस्तेमाल होने की कोई गारण्टी नहीं है। दिल्ली के अस्पतालों और डिस्पेंसरियों में दवाओं, ज़रूरी साज़ो-सामान और डॉक्टरों का अभाव भ्रष्टाचार की कहानी खुद बयाँ कर देते हैं।

दिल्ली में स्वास्थ्य सुविधाओं का यह आलम है कि लोग बहुत मजबूरी में ही या ग़रीबी के चलते सरकारी अस्पतालों या डिस्पेंसरियों का रुख़ करते हैं। दिल्ली सरकार लगभग 339 डिस्पेंसरियाँ यानी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र चलाती है। जनसंख्या के लिहाज से प्रति डिस्पेंसरी पर 50,000 आबादी का बोझ पड़ता है। इसी प्रकार राज्य सरकार द्वारा संचालित अस्पतालों में मात्र 10,000 बिस्तरे मौजूद हैं जोकि निजी क्षेत्र के 15,000 बिस्तरों से काफ़ी कम हैं। हालाँकि दिल्ली में ग़रीब आबादी काफ़ी ज़्यादा होने का अनुमान लगाया जाता है, लेकिन सरकार के ही अनुसार दिल्ली में 22 लाख लोग ग़रीबी रेखा से नीचे यानी बीपीएल कार्डधारक हैं। दिल्ली सरकार की स्वास्थ्य सुविधाएँ यहाँ की ग़रीब आबादी के लिए एकदम नाकाफ़ी हैं।

दिल्ली में स्वास्थ्य से जुड़ी योजनाओं की भरमार है। इनका लागू होना-न होना अलग बात है पर अख़बारों और टीवी में तो इन्हें प्रचारित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी जाती। गर्भवती महिलाओं के लिए 'मातृसुरक्षा योजना' और बच्चों वाली महिलाओं के लिए 'ममता' नाम की योजना चलायी जाती है। इसके तहत माँ एवं बच्चों का सही वक़्त पर टीकाकरण, स्वास्थ्य-जाँच, उचित पोषाहार की आपूर्ति करना आदि आते हैं। ये योजनाएँ भी अपनी नैसर्गिक गति से सरकारी महकमे की लापरवाही और भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ रही हैं। इसी प्रकार विश्व बैंक से मिलने वाले धन से चलने वाली समेकित बाल विकास योजनाओं के अन्तर्गत दिल्ली में 8,000 आँगनवाड़ियाँ चलायी जाती हैं। इनसे 5,00,000 बच्चों को फ़ायदा पहुँचाने का लक्ष्य रखा गया है। लेकिन आँगनवाड़ियों में आने वाला खाना इतने घटिया स्तर का होता है कि महिलाएं और बच्चे इन्हें खाते ही नहीं हैं। यहाँ का खाना खाकर कई बार बच्चों के बीमार पड़ जाने की ख़बरें भी आये दिन आती रहती हैं।

सरकारी स्वास्थ्य सुविधाओं की बदइन्तज़ामियों के कारण ही ग़रीब लोग प्रसूति या छोटे बच्चों का दवा-इलाज घर पर ही या गली-मोहल्ले के निजी क्लिनिकों या नर्सिंग होमों से कराने पर मजबूर हो जाते हैं। घर पर प्रसूति भी कोई और विकल्प न होने पर ही करवायी जाती है। अप्रशिक्षित दाइयों और सस्ते निजी क्लीनिकों के अप्रशिक्षित कर्मचारियों के हाथों में ग़रीबों की जान और ज़्यादा असुरक्षित हो जाती है।

रिपोर्ट के इस तथ्य से दिल्ली की स्वास्थ्य सुविधाओं के बारे में कई बातें सामने आती हैं। सबसे पहली बात तो यह कि पूँजीवादी असमान विकास के स्वाभाविक परिणाम के तौर पर यहाँ पर शहरी ग़रीबों की आबादी बढ़ रही है। इस विशाल आबादी के लिहाज से दिल्ली की सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की हालत दिन-पर-दिन खस्ता होती जा रही है। दूसरे स्पष्ट तौर पर स्वास्थ्य क्षेत्र में निजी क्षेत्र को बढ़ावा देने का एक परिणाम सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं की ओर से मुँह मोड़ लेने के तौर पर सामने आया है। स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सेवा देने से भी सरकार का पीछे हटना उसकी नीतियों का ही हिस्सा है। 1991 के बाद बाज़ारीकरण की नीतियों के लागू होने के भयंकर नतीजे अब दिखने लगे हैं। इसके अलावा सरकार की सामाजिक कल्याण की योजनाएँ पूर्णत: असफल हैं। इन योजनाओं को लागू कराने की सरकार की आंशिक इच्छा भी सरकारी तन्त्र की लापरवाही और उसके भ्रष्टाचार की वजह से दम तोड़ देती है। लिहाजा, भले सरकार सामाजिक कल्याण के नाम पर अपनी पीठ खुद थपथपा रही हो, पर खुद सरकारी रिपोर्टों के ऐसे तथ्य उसकी सारी लीपापोती को सरेबाज़ार बेपर्दा कर देते हैं।

शिशु मृत्यु दर में वृद्धि का यह आँकड़ा मात्र एक संकेतभर है। असल में स्थिति और भी भयानक हो सकती है। वैसे यह सोचना भी ग़लतफहमी होगा कि सरकार खुद इस भयावह स्थिति को सामने लायेगी। इस भयावह स्थिति का अन्दाज़ा तो सरकारी अस्पतालों की दुर्दशा देखकर और ग़रीब बस्तियों में रोज़ाना होने वाली असमय मौतों से लगाया जा सकता है।

कपिल स्वामी

वैश्विक वित्तीय संकट का नया 'तोहफ़ा'

ग़रीबी, बेरोज़गारी के साथ बाल मज़दूरी में भी इज़ाफ़ा

अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ.) द्वारा हाल ही में जारी रिपोर्ट "लड़कियों को एक मौक़ा दो : बाल मज़दूरी की रोकथाम – भविष्य की कुंजी" (गिव गर्ल्स ए चांस : टैकलिंग चाइल्ड लेबर – ए की टू द फ़्यूचर) के मुताबिक़ वैश्विक वित्तीय संकट ज़्यादा से ज़्यादा बच्चों को विशेषकर लड़कियों को बाल मज़दूरी की ओर धकेल रहा है। 12 जून को बाल श्रम के ख़िलाफ़ अन्तरराष्ट्रीय दिवस के उपलक्ष्य में विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के शीर्षस्थ संस्थानों में से एक आई.एल.ओ. ने खुद इस तथ्य का खुलासा किया। ग़ौरतलब है कि दो साल पहले 2007 में, एक अन्य रिपोर्ट में आई.एल.ओ. ने इस बात पर भी रोशनी डाली थी कि उदारीकरण, निजीकरण की नीतियाँ लागू होने के बाद से भारत में बाल श्रमिकों की संख्या में 10 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है।

हाल की इस रिपोर्ट में सीधे-सीधे शब्दों में यह भी कहा गया है कि दुनियाभर में प्लेग की तरह फैल रही आर्थिक मन्दी के फलस्वरूप ग़रीबी बढ़ी है और यही कारण है कि ग़रीब परिवारों को अपने बच्चों को स्कूल भेजने की जगह काम पर भेजना पड़ रहा है। रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि विश्वभर में आज लगभग दस करोड़ से भी ज़्यादा लड़कियाँ ऐसी हैं, जो बाल मज़दूरी कर रही हैं और इनमें से अधिकतर तो निकृष्टतम कोटि की मज़दूरी करने के लिए मजबूर हैं।

साफ़ तौर पर यह रिपोर्ट उन तमाम सरकारी एवं ग़ैर-सरकारी कवायदों के मुँह पर एक करारा तमाचा है, जो मानती हैं कि बाल श्रम का उन्मूलन क़ानून बनाकर किया जा सकता है। भारत में बाल मज़दूरी के ख़िलाफ़ तो क़ानून बना ही हुआ है, मगर यह कितना कारगर साबित हुआ है, इसकी असलियत सभी जानते हैं। ऐसे 'नख-दन्त विहीन' क़ानूनों को तो पूँजीपति वर्ग अपनी जेब में लेकर घूमता है और खुलेआम इनका उल्लंघन करके मखौल उड़ाता है। अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने की अन्धी हवस में पूँजीपति वर्ग ज़्यादा से ज़्यादा महिलाओं और बच्चों को काम पर रखता है ताकि ख़र्च तो कम से कम हो और लाभ ज़्यादा से ज़्यादा।

एक बात जो यहाँ ध्यान देने योग्य है वह यह कि आई.एल.ओ. बाल मज़दूरी में बढ़ोत्तरी को महज़ आर्थिक मन्दी के दौर की उपज बताता है। लेकिन एक ऐसी व्यवस्था जो मुनाफ़े पर आधारित हो, वह फिर चाहे मन्दी का दौर हो या विकृत विकास का, मुनाफ़े के लालच में मासूम बचपन को भी नहीं बख़्शती, उसे भी लील जाती है। यह एक और नया 'तोहफ़ा' है आम मेहनतकश जनता के लिए इस व्यवस्था की ओर से। जब महँगाई, भूखमरी, कुपोषण, बेरोजगारी, अशिक्षा, छँटनी, ग़रीबी जैसे बेशक़ीमती 'तोहफ़े' देकर इसका पेट नहीं भरा तो बाल मज़दूरी के रूप में एक नया उपहार भेंट करने चली। बात एकदम साफ़ है। बाल मज़दूरी का ख़ात्मा इस व्यवस्था की चौहद्दी के भीतर सम्भव ही नहीं है।

बाल मज़दूरी को मिटाने के लिए ज़रूरी है पूँजीवाद को मिटाना, उस मानवद्रोही व्यवस्था को मिटाना जो बच्चों से उनका बचपन छीन लेती है, उन्हें घोर नारकीय अन्धकारमय जीवन जीने के लिए मजबूर कर देती है।

शिवानी

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें? (दूसरी किश्त)

● अभिनव

अब तक हमने उन आर्थिक प्रक्रियाओं के बारे में पढ़ा जिनके नतीजे के तौर पर वे स्थितियाँ पैदा होती हैं जो फ़ासीवाद को भी जन्म दे सकती हैं। कोई ज़रूरी नहीं है कि ये आर्थिक परिस्थितियाँ अनिवार्य रूप से फ़ासीवाद को जन्म दें। फ़ासीवाद के उभार को रोका जा सकता है या नहीं, यह काफ़ी कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि संकटपूर्ण परिस्थिति का कोई क्रान्तिकारी विकल्प मौजूद है या नहीं। यदि क्रान्तिकारी विकल्प मौजूद नहीं होगा तो जनता को प्रतिक्रिया के रास्ते पर ले जाना फ़ासीवादी ताक़तों के लिए आसान हो जायेगा। इस परिप्रेक्ष्य में भगतसिंह का वह कथन बरबस ही याद आता है जिसमें उन्होंने कहा था कि जब गतिरोध की स्थिति लोगों को अपने शिकंजे में जकड़ लेती है तो इंसानियत की रूह में क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की ज़रूरत होती है, वरना प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ जनता को ग़लत रास्ते पर ले जाने में सफल हो जाती हैं।

इस सामान्य रूपरेखा के बाद जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के उदय की स्थितियों और प्रक्रियाओं पर निगाह डालना उपयोगी होगा। जर्मनी फ़ासीवाद के उदय, विकास और सशक्तीकरण का सबसे प्रातिनिधिक उदाहरण है। हालाँकि इटली में फ़ासीवाद सत्ता में जर्मनी के मुक़ाबले पहले आया, लेकिन जर्मनी ही वह देश था जहाँ फ़ासीवादी उभार सबसे गहरे तक जड़ जमाये और ज़बरदस्त था। इसलिए हम अपना विश्लेषण जर्मनी से ही शुरू करते हैं।

जर्मनी में फ़ासीवाद

फ़ासीवादियों के बारे में अक्सर एक मिथक लोगों के दिमाग़ में होता है कि वे असांस्कृतिक, सनकी, झक्की होते हैं। जर्मनी का उदाहरण दिखलाता है कि फ़ासीवादियों की क़तार में कोई पागलों या सनकियों की भरमार नहीं थी। बल्कि वहाँ बेहद पढ़े-लिखे लोगों की तादाद मौजूद थी जो समानता, जनवाद और आज़ादी के उसूलों के बेहद सचेतन विरोधी थे। जर्मनी में फ़ासीवादियों को तमाम सामाजिक तबकों से समर्थन प्राप्त था। इनमें नौकरशाह वर्ग, कुलीन वर्ग और पढ़े-लिखे अकादमिकों (विश्वविद्यालय, कॉलेज, स्कूल के टीचर, लेखक, पत्रकार, वकील आदि) की अच्छी-ख़ासी संख्या शामिल थी। 1934 में क़रीब एक लाख लोगों को हिटलर की हत्यारी सेना **'आइन्त्साज़ग्रुप्पेन'** ने या तो गिरफ़्तार कर लिया था, या यातना शिविरों में भेज दिया था या फिर मार डाला था। आपको जानकर ताज्जुब होगा कि आइन्त्साज़ग्रुप्पेन के अधिकारियों का एक-तिहाई हिस्सा विश्वविद्यालयों से डिग्री प्राप्त किये हुए लोगों का था।

जर्मनी में फ़ासीवाद को बड़े उद्योगपतियों से ज़बदरस्त समर्थन प्राप्त था। पूँजीपति वर्ग के जिस हिस्से ने हिटलर की **राष्ट्रीय समाजवादी मज़दूर पार्टी (नात्सी पार्टी)** को सबसे पहले समर्थन दिया था, वह था घरेलू भारी उद्योगों का मालिक पूँजीपति वर्ग। बाद में पूँजीपति वर्ग के दूसरे सबसे बड़े हिस्से निर्यातक पूँजीपति वर्ग ने भी हिटलर को अपना समर्थन दे दिया। और इसके बाद उद्योग जगत के बचे-खुचे हिस्से ने भी नात्सी पार्टी को समर्थन दे दिया। इसके कारण साफ़ थे। हिटलर की नीतियों का सबसे ज़्यादा फ़ायदा बड़े पूँजीपति वर्ग को होना था। वैश्विक संकट के दौर में मज़दूर आन्दोलन की शक्ति को खण्डित करके अपनी सबसे प्रतिक्रियावादी, सबसे नग्न और सबसे क्रूर तानाशाही को लागू करने के लिए जर्मनी के बड़े पूँजीपति वर्ग को जिस राजनीतिक समूह की ज़रूरत थी, वह था नात्सी पार्टी (जो पूँजीवाद से पैदा हुई आर्थिक-सामाजिक असुरक्षा के कारण निम्न पूँजीपति वर्गों, मध्यम वर्गों और मज़दूर वर्ग के एक हिस्से में पनपने वाली प्रतिक्रिया का इस्तेमाल करके एक ग़ैरजनवादी, तानाशाह सत्ता स्थापित कर सके। ज़ाहिर है, इस प्रतिक्रिया का निशाना किसी न किसी को बनाना था और जर्मनी में नात्सी पार्टी ने प्रतिक्रिया का निशाना जिन्हें बनाया वे थे नस्लीय अल्पसंख्यक, विशेष रूप से यहूदी, मज़दूर व ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता (जिन्हें नात्सी पार्टी ने आर्थिक असुरक्षा और ठहराव का ज़िम्मेदार ठहराया) और कम्युनिस्ट। नात्सी पार्टी का फ़ासीवादी शासन अन्तिम विश्लेषण में निश्चित रूप से बड़े वित्तीय और औद्योगिक पूँजीपति वर्ग की तानाशाही का नग्नतम और क्रूरतम रूप था। इसे एक छोटे-से उदाहरण से समझा जा सकता है। जर्मन उद्योगपतियों ने नात्सी शासन के दौरान अपने कारख़ानों में ग़ुलामों से जमकर श्रम करवाया, जो कहने की आवश्यकता नहीं कि फ़ासीवादी राज्य उन्हें मुफ़्त में मुहैया कराता था। ये दास श्रम करने वाले लोग थे हिटलर द्वारा यातना शिविरों में भेजे गये यहूदी, मज़दूर, ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता और कम्युनिस्ट। आम ग़ुलाम मज़दूर की औसत आयु मात्र तीन महीने थी। तीन महीने इस क़िस्म का श्रम करने के बाद उनकी मौत हो जाया करती थी। इस ग़ुलाम श्रम का इस्तेमाल करने वाली कम्पनियों में आज के जर्मनी की तमाम प्रतिष्ठित कम्पनियाँ शामिल थीं, जैसे वोल्क्सवैगन और क्रुप। ये सिर्फ़ दो उदाहरण हैं। इस घिनौने कृत्य में जर्मनी के तमाम बड़े पूँजीपति शामिल थे। इन अमानवीय कृत्यों के विरुद्ध लड़ने वाले लोग अधिकांश मामलों में कम्युनिस्ट थे। कम्युनिस्टों को ही सबसे बर्बर दमन का भी सामना करना पड़ा।

इतिहास गवाह है कि संकट के दौरों में, जब संसाधनों की "कमी" (क्योंकि यह वास्तविक कमी नहीं होती, बल्कि मुनाफ़ा-आधारित व्यवस्था द्वारा पैदा की गयी कृत्रिम कमी होती है) होती है, तभी धार्मिक और जातीय अन्तरविरोध और टकरावों के पैदा होने और बढ़ने की सम्भावना सबसे ज़्यादा होती है। अगर जनता के सामने वर्ग अन्तरविरोध साफ़ नहीं होते और उनमें वर्ग चेतना की कमी होती है तो उनके भीतर किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय के लोगों के प्रति अतार्किक प्रतिक्रियावादी गुस्सा भरा जा सकता है और उन्हें इस भ्रम का शिकार बनाया जा सकता है कि उनकी दिक्कतों और तकलीफ़ों का कारण उस विशेष सम्प्रदाय, जाति या धर्म के लोग हैं। आज जिस तरह वैश्विक संकट के दौर में दुनिया भर में बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ी है उसी प्रकार 1930 के दशक की मन्दी के समय भी दुनिया भर में बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ी थी। शहरी ग़रीबों की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी हुई थी। जिन देशों में औद्योगिक विकास का एक लम्बा और गहरा इतिहास था वहाँ पूँजीवादी विकास के कारण आम मेहनतकश जनता के उजड़ने की प्रक्रिया एक क्रमिक प्रक्रिया थी जो धीरे-धीरे और कई किश्तों में पूरी हुई। लेकिन जर्मनी में औद्योगिक विकास 1860-70 के पहले बेहद कम था जो राष्ट्रीय एकीकरण के बाद द्रुत गति से हुआ और उसने गाँवों में ग़रीब किसानों को और शहरों में आम मेहनतकश आबादी को इतनी तेज़ गति से उजाड़ा कि पूरे समाज में एक भयंकर असुरक्षा और अनिश्चितता का माहौल पैदा हुआ। जर्मनी में भी शहरी बेरोज़गारी, और शहरी और ग्रामीण ग़रीबी में तेज़ी से वृद्धि हुई थी। अतिवादी नस्लवाद, सम्प्रदायवाद, या जातीयतावाद अक्सर आर्थिक और सामाजिक तौर पर उजड़े हुए लोगों के जीवन को एक "अर्थ" प्रदान करने का काम करते हैं। यही कारण है कि ऐसे समाजों में जहाँ पूँजीवादी विकास क्रान्तिकारी प्रक्रिया के ज़रिये नहीं हुआ, जहाँ पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया इतिहास के एक लम्बे दौर में फैली हुई प्रक्रिया के रूप में नहीं मौजूद थी, बल्कि एक असमान, अधूरी, और अजीब तरीक़े से द्रुत अराजक प्रक्रिया के रूप में घटित हुई, वहाँ फ़ासीवाद के सामाजिक आधार समाज में पैदा हुए।

जर्मनी में औद्योगीकरण की प्रक्रिया बहुत देर से शुरू हुई। इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत 1780 के दशक में हो गयी थी। फ़्रांस में 1860 आते-आते औद्योगिक क्रान्ति का एक दौर पूरा हो चुका था। दूसरी तरफ़, इस समय तक जर्मनी एक एकीकृत देश के रूप में सामने तक नहीं आ पाया था। जर्मन एकीकरण के बाद एक जर्मन राष्ट्र राज्य अस्तित्व में आया। बिस्मार्क के नेतृत्व में पूँजीवादी विकास की शुरुआत हुई। जर्मनी में राष्ट्रीय पैमाने पर पूँजीवाद का विकास ही तब शुरू हुआ जब विश्व पैमाने पर पूँजीवाद साम्राज्यवाद, यानी कि एकाधिकारी पूँजीवाद, के दौर में प्रवेश कर चुका था। एकाधिकारी पूँजीवाद प्रकृति और चरित्र से ही जनवाद-विरोधी होता है। जर्मनी में पूँजीवादी विकास बैंकों की पूँजी की मदद से शुरू हुआ और उसका चरित्र शुरू से ही एकाधिकारी पूँजीवाद का था। नतीजतन, जर्मनी में पूँजीवाद का विकास 1880 के दशक से ही इतनी तेज़ गति से हुआ कि 1914 आते-आते वह यूरोप का सबसे अधिक आर्थिक वृद्धि दर वाला देश बन गया जिसका औद्योगिक उत्पादन अमेरिका के बाद सबसे अधिक था। लेकिन किसी जनवादी क्रान्ति के रास्ते पूँजीवाद के न आने के कारण समाज में जनवाद की ज़मीन हमेशा से ही कमज़ोर थी। जर्मनी के एक आर्थिक महाशक्ति के तौर पर उदय के बाद विश्व पैमाने पर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का तीव्र होना लाज़िमी था। उस समय ब्रिटेन दुनिया की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति था और उसका औपनिवेशिक साम्राज्य सबसे बड़ा था। जर्मनी विश्व पैमाने पर लूट का नये सिरे से बँटवारा करना चाहता था। जर्मनी की यह साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा विश्व को पहले विश्वयुद्ध की तरफ़ ले गयी। पहला विश्वयुद्ध 1914 से 1919 तक चला जिसमें मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी समेत धुरी राष्ट्रों को हरा दिया। वर्साई में युद्ध के समाप्त होने के बाद सन्धि हुई जिसे **वर्साई सन्धि** के नाम से जाना जाता है। इस सन्धि में जर्मनी पर भारी शर्तें थोपी गयीं। उससे भारी युद्ध हर्ज़ाना वसूला गया। उसके सभी अधिकार-क्षेत्र उससे छीन लिये गये। उसके कुछ हिस्से अलग-अलग देशों को दे दिये गये। युद्ध की समाप्ति के बाद जर्मनी की पूरी अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। इसके कारण जर्मन पूँजीवाद के समक्ष अस्तित्व का संकट पैदा हो चुका था। पुरानी विकास दर को हासिल करने के लिए जर्मन पूँजीवाद को मज़दूरों के शोषण की ऐसी दर हासिल करनी पड़ती जो मज़दूर आबादी को बग़ावत पर आमादा कर देती। लेकिन इसी समय जर्मन पूँजीपति वर्ग के सामने रूस का उदाहरण भी था, जहाँ साम्राज्यवादी युद्ध ने सर्वहारा क्रान्ति को जन्म दिया। जर्मन पूँजीपति वर्ग को वही ग़लती करने से जर्मनी के सामाजिक जनवादियों ने बचा लिया। जर्मन बड़े पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधि **ह्यूगो स्टिनेस** और जर्मनी के सामाजिक जनवादी पार्टी के नेता **कार्ल लीजन**, जो ट्रेड यूनियनों और मज़दूरों के प्रतिनिधि के तौर पर गये थे, के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते के तहत जर्मन पूँजीपति वर्ग जर्मन मज़दूर वर्ग को तमाम रियायतें और सुविधाएँ देने के लिए तैयार हो गया। ये वे रियायतें व सुविधाएँ थीं जिन्हें देने के लिए जर्मन पूँजीपति वर्ग युद्ध के पहले के तेज़ी के हालात में देने के लिए कभी तैयार नहीं होता। लेकिन अब अगर वह मज़दूर वर्ग से टकराव मोल लेता तो किसी क्रान्तिकारी प्रहार को झेलने की ताक़त युद्ध के बाद उसमें बची नहीं थी। लेनिन ने 1919 में जर्मनी में वीमर गणराज्य के अस्तित्व में आने के बाद और जर्मन पूँजी और श्रम के बीच सामाजिक जनवादियों के मार्गदर्शन में समझौता होने के बाद ही कहा था कि जर्मन बड़े पूँजीपति वर्ग ने रूसी क्रान्ति के उदाहरण से सबक़ लिया और मज़दूर वर्ग से सीधे तौर पर उलझने की बजाय समझौता करना उपयुक्त समझा। 1919 के जून में **जर्मन लीग ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़** के अध्यक्ष मण्डल के सदस्य **अब्राहम फ़्राउइन** का यह कथन इस बात को अच्छी तरह दिखलाता है – *"सज्जनो, रूस में घटनाओं ने ग़लत मोड़ ले लिया, और शुरुआत से ही उद्योग ने क्रान्ति को ख़ारिज किया। अगर हम – और यह काफ़ी आसान होता – भी असहयोग की अवस्थिति अपनाते, तो मुझे पूरा यक़ीन है कि आज हमारे यहाँ भी वही स्थितियाँ होतीं जोकि रूस में हैं।"* एक जर्मन उद्योगपति का यह कथन जर्मन संशोधनवादियों की मज़दूर वर्ग से ग़द्दारी को साफ़ तौर पर दिखलाता है।

श्रम और पूँजी के बीच हुए समझौते ने जर्मनी में एक अन्तरविरोध को तीखा होने से कुछ समय तक के लिए टाल दिया। लेकिन इससे वह अन्तरविरोध ख़त्म नहीं हुआ और न ही हो सकता था। युद्ध के बाद जर्मन पूँजी को श्रम के और तेज़ रफ़्तार से शोषण की ज़रूरत थी। लेकिन जर्मन पूँजीवाद को बचाने के लिए मज़दूर वर्ग को कई रियायतें देना पूँजीपति वर्ग की मजबूरी थी। इसके कारण जनवाद के सबसे धुर शत्रु वर्गों को अपने कई विशेषाधिकारों का परित्याग करना पड़ा। इन वर्गों में जर्मनी का **युंकर वर्ग** (धनी किसान वर्ग, जो पहले सामन्ती ज़मींदार हुआ करता था और जिसे क्रमिक भूमि सुधारों के रास्ते पूँजीवादी भूस्वामी वर्ग में तब्दील कर दिया गया) और जर्मनी का बड़ा पूँजीपति वर्ग जिसमें प्रमुख थे घरेलू भारी उद्योग के मालिक पूँजीपति। इन वर्गों का मज़दूर वर्ग के साथ अन्तरविरोध समय-समय पर सिर उठाता रहता था, लेकिन संगठित मज़दूर आन्दोलन के कारण हिटलर के आने से पहले के समय तक ये वर्ग मज़दूरों का नग्न दमन और शोषण शुरू नहीं कर पाये। 1924 तक इन वर्गों की तरफ़ से कुछ तख़्तापलट की कोशिशें भी हुईं जिनका लक्ष्य मज़दूर वर्ग पर बुर्जुआ वर्ग की हिंस्र तानाशाही लागू करना था। लेकिन इनके बावजूद जर्मन प्रतिक्रियावादी बड़ा पूँजीपति वर्ग सफल नहीं हो पाया। 1924 से 1929 तक का दौर जर्मन पूँजीवाद में तुलनात्मक स्थिरता का दौर था जिसमें श्रम और पूँजी के बीच का समझौता कम-से-कम ऊपरी तौर पर सुगम रूप से चला और मज़दूर वर्ग ने अपनी सहूलियतों और रियायतों को क़ायम रखा। लेकिन 1929 में महामन्दी आयी और उसने जर्मन पूँजीपति वर्ग को भारी धक्का दिया। इस धक्के के कारण जर्मन पूँजीपति वर्ग के लिए मुनाफ़े की दर को सम्मानजनक स्तर पर बनाये रख पाना असम्भव हो गया और यहीं से उस राजनीतिक संकट की शुरुआत हुई, जिसने अन्ततः हिटलर के नेतृत्व में नात्सी पार्टी को 1933 में सत्ता में पहुँचा दिया। 1927 तक जर्मनी ने अपना औद्योगिक उत्पादन उसी स्तर पर पहुँचा दिया था जिस स्तर पर वह प्रथम विश्वयुद्ध से पहले था और जर्मनी यूरोप की सबसे बड़ी और दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी औद्योगिक महाशक्ति बन चुका था। लेकिन अन्दर से जर्मन पूँजीवाद मज़दूर आन्दोलन के साथ समझौते के दबाव के कारण अभी भी उतना ही अस्थिर था। जर्मन पूँजीपति वर्ग की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ फिर से ज़ोर मारने लगी थीं और जर्मन पूँजीपति वर्ग के कई प्रतिनिधियों की ओर से फिर से युद्धोन्मादी और अन्धराष्ट्रवादी नारे सुनायी देने लगे थे। विश्व स्तर पर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में फिर से अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए अब जर्मन पूँजीपति वर्ग को खुले हाथ की ज़रूरत थी, जिसके कारण मज़दूर वर्ग से समझौते को ख़ारिज कर देने का दबाव बढ़ता जा रहा था। यही कारण था कि जर्मन नेशनल पीपुल्स पार्टी और सेण्टर पार्टी के नेतृत्व में अन्धराष्ट्रवादी नेताओं की विजय हुई। 1928 में नात्सी पार्टी को चुनावों में काफ़ी सफलता प्राप्त हुई। 1929 में महामन्दी की

(पेज 8 पर जारी)

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

(पेज 7 से आगे)

शुरुआत के बाद जर्मन पूँजीपति वर्ग के लिए मज़दूरों को दी गयी सभी रियायतों को रद्द करना अस्तित्व का प्रश्न बन गया। अब वे इन रियायतों का ख़र्च नहीं उठा सकते थे। महामन्दी के कारण देश में बेरोज़गारी और ग़रीबी तेज़ी से बढ़ी लेकिन मज़दूर आबादी की मोलभाव करने की क्षमता इससे कम नहीं हुई क्योंकि उनका प्रतिरोध संगठित था। नतीजतन, महामन्दी का पूरा दबाव पूँजीपति वर्ग पर पड़ने लगा और उसके मुनाफ़े की दर में तेज़ी से कमी आयी। मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ कोई आक्रामक रवैया न अपना पाने के कारण आर्थिक संकट के दबाव को निम्न मध्यवर्ग और मध्यम वर्गों की ओर निर्देशित कर दिया गया। संकट के कारण जो वर्ग सबसे तेज़ी से तबाह होकर सड़कों पर आ रहा था वह था छोटे उद्योगपतियों और व्यापारियों का वर्ग। कारण यह था कि वह श्रम के शोषण की दर को बढ़ा पाने में पूरी तरह अक्षम था।

बड़े पूँजीपति वर्ग को इस समय किसी ऐसी राजनीतिक शक्ति की आवश्यकता थी जो तबाह हो रहे निम्न मध्यम वर्ग, आम शहरी मेहनतकश आबादी के एक हिस्से, मध्यम वर्गों की प्रतिक्रिया के निशाने पर संगठित मज़दूर आन्दोलन को ला सके और उन्हें इस बात पर सहमत कर सके कि सारी दिक्कत की जड़ कम्युनिस्ट, ट्रेड यूनियन और संगठित मज़दूर आबादी है। इस काम को नात्सी पार्टी से बेहतर कोई अंजाम नहीं दे सकता था।

इस संकट के दौर में यदि कोई क्रान्तिकारी नेतृत्व मज़दूर आन्दोलन को मौजूदा व्यवस्था से बाहर ले जाने की ओर आगे बढ़ा पाता तो तस्वीर कुछ और होती, लेकिन सामाजिक जनवादियों की जकड़बन्दी में मज़दूर आन्दोलन बस मिली हुई रियायतों और सहूलियतों से चिपके रहना चाहता था, उससे आगे नहीं जाना चाहता था। या यूँ कहें कि सामाजिक जनवादी नेतृत्व ने उसे पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर मिले सुधारों को ही बचाये रखने को प्रेरित किया, उससे आगे जाने को नहीं। लेकिन इन सुधारों को कायम रखने के लिए जर्मन पूँजीपति वर्ग अब तैयार नहीं था क्योंकि अब यह उसकी मजबूरी नहीं रह गया था और यह उसके लिए अब सम्भव भी नहीं रह गया था। वह हमले के लिए तैयार था। लेकिन मज़दूर वर्ग वहीं का वहीं खड़ा रह गया। नतीजा यह हुआ कि आर्थिक संकट बढ़ने के साथ संगठित मज़दूर वर्ग से बाहर की मज़दूर आबादी, निम्न मध्यमवर्गीय आबादी और मध्यम वर्गीय आबादी के समक्ष बेरोज़गारी, असुरक्षा और अनिश्चितता का संकट बढ़ता गया जिसने उस प्रतिक्रिया को जन्म दिया जिसका इस्तेमाल नात्सियों ने किया। इसी प्रतिक्रिया को उन्होंने एक नस्लवादी शक्ल भी दे दी क्योंकि इसके बिना उतने बड़े पैमाने पर प्रतिक्रियावादी गोलबन्दी सम्भव नहीं थी। नतीजतन, इस तमाम अनिश्चितता और असुरक्षा के लिए यहूदियों को ज़िम्मेदार ठहराया गया।

दूसरी ओर सामाजिक जनवादियों ने युंकरों और धनी किसानों के प्रभुत्व को कृषि क्षेत्र में तोड़ने वाले भूमि सुधारों के लिए भी सत्ता पर दबाव नहीं डाला। ग़ौरतलब है कि यह दबाव डालने के लिए सामाजिक जनवादियों के पास पर्याप्त ताक़त थी। इसकी मिसाल तब देखने को मिली थी जब 1926 में राजकुमारों को राज्य से मिलने वाले ख़र्च को ख़त्म करने के लिए उन्होंने सफल आन्दोलन चलाया था। इसी जनवादीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए वे रैडिकल भूमि सुधारों के ज़रिये शासक वर्गों के सबसे प्रतिक्रियावादी हिस्से ईस्ट एल्बे के युंकरों के प्रभुत्व को तोड़कर शासक वर्ग की ताक़त को कमज़ोर कर सकते थे। ऐसा इसलिए भी आसान था क्योंकि युंकरों और बड़े पूँजीपति वर्ग और बैंकों के बीच पहले से ही अन्तरविरोध मौजूद थे। लेकिन सामाजिक जनवादियों ने ऐसा नहीं किया और बस मज़दूर आन्दोलन को मिली रियायतों से चिपके रहने के हिमायती बने रहे। मिली हुई सहूलियतों को क़ायम रखने के लिए सामाजिक जनवादी बड़े पूँजीपति वर्ग की शर्तों पर उस समझौते को क़ायम रखना चाहते थे। जबकि पूँजीपति वर्ग इन सहूलियतों को ख़त्म कर अपना हमला करने की तैयारी कर चुका था। 1926 में **पॉल सिल्वरबर्ग** ने एक वक्तव्य **जर्मन लीग ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़** में दिया, जो ग़ौरतलब है। उन्होंने कहा, **"सामाजिक जनवाद को वास्तविकता में लौट आना चाहिए और रैडिकल सिद्धान्तवाद छोड़कर हमेशा नुक़सानदेह रही सड़क और बल की नीति को छोड़ देना चाहिए। उसे ज़िम्मेदार तरीक़े से मालिकों के साथ उनके निर्देशन में सहयोग करना चाहिए।"** अब ज़रा इस कथन की तुलना बुद्धदेब भट्टाचार्य के उस कथन से कीजिये जो उन्होंने कुछ समय पहले ट्रेड यूनियन करने वालों की एक बैठक में दिया था। इसमें बुद्धदेब भट्टाचार्य ने कहा कि कम्युनिस्टों को बदले हालात को समझना चाहिए और मालिकों से सहयोग करना चाहिए। वर्ग संघर्ष का दौर अब बीत चुका है। आज श्रम को पूँजी के साथ विकास के लिए उसकी शर्तों पर सहयोग करना चाहिए!

1929 में जर्मन पूँजीपति वर्ग ने पहला बड़ा हमला करते हुए **रेड फ्रण्ट यूनियन** पर प्रतिबन्ध लगा दिया। दूसरी ओर नात्सियों के गुण्डों और हत्यारों के दस्ते छुट्टे घूम रहे थे। सामाजिक जनवादी चुप रहे। इसके बाद 1932 तक ऐसे हमले जारी रहे और सामाजिक जनवादी हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। कारण यह था कि इसका जवाब क्रान्तिकारी रास्ते से ही दिया जा सकता था और उस रास्ते पर सर्वहारा वर्ग के ग़द्दार संशोधनवादी चल नहीं सकते थे। अपनी इस चुप्पी से सामाजिक जनवादी उस संगठित मज़दूर आन्दोलन में भी अपना आधार खोते गये जो उनका गढ़ था। मज़दूर आबादी का भी एक हिस्सा नात्सियों के शिविर की ओर जाने लगा। नतीजा यह हुआ कि 1932 में **वॉन पेपन** नामक दक्षिणपन्थी नेता के नेतृत्व में तख्तापलट हुआ और वह गठबन्धन सरकार गिर गयी जिसका प्रमुख हिस्सा सामाजिक जनवादी थे। कुछ ही समय में वीमर गणराज्य के बुर्जुआ जनवादी संविधान की ही ख़ामियों का फ़ायदा उठाकर एक इनेबलिंग एक्ट लाया गया और संसदीय जनतन्त्र को तानाशाही में तब्दील कर दिया गया। संसद में सामाजिक जनवादियों और बुर्जुआ उदारवादियों के ख़िलाफ़ मुख्य तौर पर दो पार्टियाँ साथ आ गयीं – **नेशनल जर्मन पीपुल्स पार्टी** और **नात्सी पार्टी**। चुनावों के पहले सामाजिक जनवादियों और उदारवादियों के ख़िलाफ़ ज़बरदस्त प्रचार अभियान चलाया गया। उन्हें देशद्रोही और संकट का ज़िम्मेदार बताया गया। 1932 के चुनावों में इन दोनों पार्टियों को मिलाकर 42 प्रतिशत वोट मिले जिसमें से 33 प्रतिशत नात्सी पार्टी के थे। 1933 में फिर से चुनाव हुए जिसमें नात्सी पार्टी को अकेले 44 प्रतिशत वोट मिले। इसके साथ ही हिटलर सत्ता में आया और जर्मनी में फ़ासीवाद को विजय हासिल हुई।

जर्मनी में फ़ासीवाद की विजय के इस संक्षिप्त इतिहास पर निगाह डालने के बाद हम कुछ नतीजों को बिन्दुवार समझ सकते हैं।

जर्मनी में फ़ासीवाद की ज़मीन किस रूप में मौजूद थी? जर्मनी में पूँजीवादी विकास देर से शुरू हुआ। लेकिन शुरू होने के बाद यह बेहद द्रुत गति से हुआ और बिना किसी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के हुआ। नतीजतन, दो परिघटनाएँ सामने आयीं। एक, पिछड़ापन तमाम क्षेत्रों और तमाम रूपों में छूट गया और आधुनिकीकरण और जनता की चेतना के जनवादीकरण के बिना ही अद्वितीय रफ़्तार से पूँजीवादी विकास हुआ। इंग्लैण्ड और फ़्रांस जैसे देशों में पूँजीवाद क्रान्तिकारी प्रक्रिया से आया और उसके बाद उसका एक लम्बा और गहराई से पैठा विकास हुआ जिसने सामन्ती और ग़ैर-जनवादी रुझानों को समाज के पोर-पोर से समाप्त कर दिया। दूसरी परिघटना यह थी कि इस तीव्र पूँजीवादी विकास ने जिस रफ़्तार से गाँवों और शहरों में मेहनतकश जनता को उसकी जगह-ज़मीन से उजाड़ा, उसने भयंकर असुरक्षा और अनिश्चितता को जन्म दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस असुरक्षा और अनिश्चितता को पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ एक क्रान्तिकारी ताक़त में तब्दील किया जा सकता था। लेकिन सामाजिक जनवादी आन्दोलन की सर्वहारा वर्ग के साथ ग़द्दारी और जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी की असफलता के कारण ऐसा नहीं हो सका। नात्सीवाद द्रुत गति से हुए उस पूँजीवादी विकास का प्रतिक्रियावादी जवाब था जिसने करोड़ों लोगों को आर्थिक-सामाजिक और भौगोलिक रूप से विस्थापित कर दिया था।

जर्मनी में भूमि सुधार क्रान्तिकारी तरीक़े से नहीं हुए, जिसमें जोतने वाले को ही ज़मीन का मालिक बना दिया गया हो। वहाँ प्रशियाई रास्ते से भूमि सुधार हुए जिसमें सामन्ती भूस्वामियों को ही पूँजीवादी कुलकों और फ़ार्मरों में तब्दील हो जाने दिया गया। यह वर्ग भयंकर प्रतिक्रियावादी वर्ग था। इसके अलावा अधूरे भूमि सुधारों से एक धनी काश्तकारों का वर्ग पैदा हुआ। ये वर्ग पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ गहराई से जुड़े हुए थे और अन्दर से धुर जनवाद-विरोधी थे। पूँजीवादी व्यवस्था के संकट के कारण पैदा हुई प्रतिक्रिया का एक अहम हिस्सा ये वर्ग थे। ये वर्ग नात्सी पार्टी के सामाजिक आधार बने। युंकरों के विशेषाधिकारों के बचे रहने के कारण सामाजिक जनवादियों का आम किसान आबादी में कोई आधार नहीं बन पाया। यह किसान आबादी फ़ासीवादी उभार के दौर में या तो निष्क्रिय पड़ी रही या फ़ासीवादियों की समर्थक बनी। उसे भी अपनी अनिश्चितता का इलाज एक फ़ासीवादी सत्ता में नज़र आ रहा था। ज़ाहिर है, बाद में यह एक भ्रम साबित हुआ, लेकिन तब तक काफ़ी देर हो चुकी थी।

1919 के बाद वीमर गणराज्य की शुरुआत के साथ जो राज्य अस्तित्व में आया, वह एक कल्याणकारी राज्य था। कल्याणकारी नीतियाँ जर्मन पूँजीपति वर्ग की मजबूरी थीं, क्योंकि युद्ध के बाद मज़दूर आन्दोलन के साथ वह सीधा टकराव नहीं मोल ले सकता था और रूस का उदाहरण उसके सामने था। यह समझ बनाने में सामाजिक जनवादियों ने पूँजीपति वर्ग की काफ़ी मदद की। मज़दूर वर्ग को तमाम रियायतें दी गयीं। लेकिन पूँजीवादी विकास की अपनी एक गति होती है। मुनाफ़े की दर को बढ़ाते जाना साम्राज्यवादी दुनिया में जर्मन पूँजीपति वर्ग के लिए अस्तित्व की शर्त थी। मज़दूर वर्ग को दी गयी छूटें उसके लिए जल्दी ही बोझ बन गयीं। कल्याणकारी नीतियाँ मुनाफ़े की दर पर एक ब्रेक के समान थीं। वित्तीय, औद्योगिक पूँजीपति वर्ग और कुलकों-युंकरों को जल्दी ही एक तानाशाह सत्ता की ज़रूरत महसूस होने लगी जो मज़दूर वर्ग पर उनकी नग्न और क्रूर तानाशाही को लागू कर सके।

सामाजिक जनवाद ने मज़दूर आन्दोलन को सुधारवाद की गलियों में ही घुमाते रहने का काम किया। उसने पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं दिया और साथ ही पूँजीवाद के भी पैरों में बेड़ी बन गया। उसका कुल लक्ष्य था पूँजीवादी जनवाद के भीतर रहते हुए वेतन-भत्ता बढ़वाते रहना और जो मिल गया है उससे चिपके रहना। लेकिन अगर पूँजीवादी व्यवस्था मुनाफ़ा पैदा ही न कर पाये तो क्या होगा? इस सवाल का उनके पास कोई जवाब नहीं था। वे यथास्थिति को सदा बनाये रखने का दिवास्वप्न पाले हुए थे। जबकि पूँजीवाद की नैसर्गिक गति कभी ऐसा नहीं होने देती। पूँजीपति वर्ग को मुनाफ़े की दर बढ़ानी ही थी। उसका टिकाऊ स्रोत एक ही था – मज़दूरों के शोषण को बढ़ाना। वह संगठित मज़दूर आन्दोलन के बूते पर सामाजिक जनवादी करने नहीं दे रहे थे। अब मुनाफ़े की दर को बढ़ाने का काम पूँजीपति वर्ग जनवादी दायरे में रहकर नहीं कर सकता था। बड़े पूँजीपति वर्ग को एक सर्वसत्तावादी राज्य की आवश्यकता थी जो उसे वीमर गणराज्य नहीं दे सकता था, जो श्रम और पूँजी के समझौते पर टिका था। यह काम नात्सी पार्टी ही कर सकती थी।

पूँजीवादी राजसत्ता का काम होता है पूँजीवादी उत्पादन के सुचारू रूप से चलते रहने की गारण्टी करना और पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की हिफ़ाज़त करना। राजसत्ता के ज़रिये पूँजीपति वर्ग अपने वर्ग हितों को संगठित करता है और व्यक्तिगत पूँजीवादी हितों से ऊपर उठता है। बीच-बीच में आपसी अन्तरविरोध अधिक बढ़ते हैं, अराजकता फैलती है और राजसत्ता अपने हस्तक्षेप से चीज़ों को फिर से सही स्थान पर पहुँचाती है। साथ ही पूँजीवादी राजसत्ता मेहनतकश जनता को एक वर्ग के रूप में संगठित नहीं होने देती और उन्हें किसी राष्ट्र, समुदाय या धर्म के सदस्य के रूप में, यानी एक नागरिक के तौर पर अस्तित्वमान रखने का प्रयास करती है। वीमर गणराज्य के दौरान जर्मनी में पूँजीवादी राजसत्ता बुर्जुआ वर्गों के हितों को संगठित कर पाने में असफल रहा। कल्याणकारी नीतियों ने पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक और आर्थिक एकता को तोड़ दिया। संकट के दौरों में पूँजीवादी हितों और जनता के हितों के बीच तारतम्य बैठा पाना कठिन हो जाता है। वहीं जनता की राजसत्ता से उम्मीदें बढ़ जाती हैं। जबकि राजसत्ता उन्हें पूरा कर पाने में और अधिक असमर्थ हो चुकी होती है। ऐसे में बुर्जुआ वर्ग के कुछ हिस्से राजसत्ता से अपने पक्ष में तानाशाहीपूर्ण रवैया अपनाने की उम्मीद रखते हैं। ऐसा न होने पर बड़ा पूँजीपति वर्ग अधिक से अधिक प्रतिक्रियावादी और अनुदार होता जाता है। वीमर गणराज्य में यही हुआ। श्रम और पूँजी के बीच का सामाजिक जनवादी समझौता राजसत्ता को बड़े पूँजीपति वर्ग की ज़रूरतों के मुताबिक खुलकर काम नहीं करने दे रहा था जिससे पूँजीवादी संकट गहराता जा रहा था। इस संकट के कारण जनता का एक ख़ासा बड़ा हिस्सा उजड़ता जा रहा था और उसमें भी असन्तोष पैदा हो रहा था। बड़े पूँजीपति वर्ग ने नात्सी पार्टी के ज़रिये इसी असन्तोष का लाभ उठाया और उसे प्रतिक्रिया की लहर में तब्दील कर दिया। नात्सी पार्टी ने इसके लिए यहूदी-विरोध, नस्लीय श्रेष्ठता, कम्युनिज़्म-विरोध, जनवाद-विरोध जैसे सिद्धान्तों का सहारा लिया।

सामाजिक जनवादियों के जुझारू अर्थवाद और ट्रेडयूनियनवाद के कारण मज़दूरी बढ़ती रही, लेकिन पूँजीवादी संकट के कारण मुनाफ़े की दर ठहरावग्रस्त रही। इसके कारण एक लाभ संकुचन की स्थिति पैदा हो गयी। इसके कारण जो वर्ग सबसे पहले तबाह हुआ, वह था छोटे उद्यमियों का वर्ग। यह वर्ग आगे चलकर फ़ासीवाद का सबसे तगड़ा समर्थक बना। यह बात दीगर है कि फ़ासीवाद ने उसे बाद में कुछ भी नहीं दिया और वह पूरी तरह इजारेदार पूँजीवाद की सेवा में लगा रहा। बड़ा पूँजीपति वर्ग तबाह होकर सड़क पर तो नहीं आया लेकिन अगर वह नात्सी उभार का समर्थन नहीं करता तो सड़क पर आ जाता क्योंकि उसे अपने मुनाफ़े में भारी कमी का सामना करना पड़ रहा था। संगठित मज़दूर आन्दोलन के कारण पूँजीपति वर्ग पर जो दबाव पड़ रहा था उसका अन्दाज़ा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि 1928 में कुल राष्ट्रीय उत्पाद का 67 प्रतिशत हिस्सा मज़दूरों को मज़दूरी के रूप में दिया जा रहा था। संकट के दौर में बढ़ी बेरोज़गारी के बावजूद पूँजीपति वर्ग की मोलभाव करने की ताक़त में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई क्योंकि एक मज़बूत और जुझारू मज़दूर आन्दोलन मौजूद था। कुलकों और युंकरों ने अपने विशेषाधिकारों को क़ायम रखने और संकट के दौर से निपटने के लिए नात्सियों का समर्थन किया। लेकिन यह मज़बूत मज़दूर आन्दोलन सामाजिक जनवाद के नेतृत्व में पूँजीवादी सुधारवाद की अन्धी गली में ही भटकता रह गया। पूँजीपति वर्ग को आक्रामक होने की पहल तोहफ़े के रूप में दे दी गयी और फ़ासीवाद का प्रतिरोध्य उभार अप्रतिरोध्य बन गया।

(अगले अंक में जारी)

हड़तालों के विषय में

लेनिन

इधर कुछ वर्षों से रूस में मज़दूरों की हड़तालें बारम्बार हो रही हैं। एक भी ऐसी औद्योगिक गुबेर्निया नहीं है, जहाँ कई हड़तालें न हुई हों। और बड़े शहरों में तो हड़तालें कभी रुकती ही नहीं। इसलिए यह बोधगम्य बात है कि वर्ग-सचेत मज़दूर तथा समाजवादी हड़तालों के महत्त्व, उन्हें संचालित करने की विधियों तथा उनमें भाग लेने वाले समाजवादियों के कार्यभारों के प्रश्न में अधिकाधिक सतत रूप में दिलचस्पी लेते हैं।

हम यहाँ इन प्रश्नों के विषय में अपने विचारों की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। अपने पहले लेख में हमारी योजना आमतौर पर मज़दूर वर्ग आन्दोलन में हड़तालों के महत्व की चर्चा करने की है; दूसरे लेख में हम रूस में हड़ताल-विरोधी क़ानूनों की चर्चा करेंगे तथा तीसरे में इस बात की चर्चा करेंगे कि रूस में हड़तालें किस तरह की जाती थीं और की जाती हैं तथा उनके प्रति वर्ग-सचेत मज़दूरों को क्या रुख़ अपनाना चाहिए।*

1

सबसे पहले हमें हड़तालों के शुरू होने और फैलने का कारण ढूँढ़ना चाहिए। यदि कोई आदमी हड़तालों को याद करेगा, जिनकी उसे व्यक्तिगत अनुभव से, दूसरों से सुनी रिपोर्टों या अख़बारों की ख़बरों के माध्यम से जानकारी प्राप्त हुई हो, तो वह तुरन्त देख लेगा कि जहाँ कहीं बड़ी फ़ैक्टरियाँ हैं तथा उनकी संख्या बढ़ती जाती है, वहाँ हड़तालें होती तथा फैलती हैं। सैकड़ों (कभी-कभी हज़ारों तक) लोगों को काम पर रखने वाली बड़ी फ़ैक्टरियों में एक भी ऐसी फ़ैक्टरी ढूँढ़ना सम्भव नहीं होगा, जहाँ हड़तालें न हुई हों। जब रूस में केवल चन्द बड़ी फ़ैक्टरियाँ थीं, तो हड़तालें भी कम होती थीं। परन्तु जब से बड़े औद्योगिक ज़िलों और नये नगरों तथा गाँवों में बड़ी फ़ैक्टरियों की तादाद बड़ी तेज़ी से बढ़ती जा रही है, हड़तालें बारम्बार होने लगी हैं।

क्या कारण है कि बड़े पैमाने का फ़ैक्टरी उत्पादन हमेशा हड़तालों को जन्म देता है? इसका कारण यह है कि पूँजीवाद मालिकों के ख़िलाफ़ मज़दूरों के संघर्ष को लाज़िमी तौर पर जन्म देता है तथा जहाँ उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है, वहाँ संघर्ष अनिवार्य ढंग से हड़तालों का रूप ग्रहण करता है।

आइये, इस पर प्रकाश डालें।

पूँजीवाद नाम उस सामाजिक व्यवस्था को दिया गया है, जिसके अन्तर्गत ज़मीन, फ़ैक्टरियाँ, औज़ार, आदि पर थोड़े-से भूस्वामियों तथा पूँजीपतियों का स्वामित्व होता है, जबकि जनसमुदाय के पास कोई सम्पत्ति नहीं होती या बहुत कम होती है तथा वह उजरती मज़दूर बनने के लिए बाध्य होता है। भूस्वामी तथा फ़ैक्टरी मालिक मज़दूरों को उजरत पर रखते हैं और उनसे इस या उस क़िस्म का माल तैयार कराते हैं, जिसे वे मण्डी में बेचते हैं। इसके अलावा फ़ैक्टरी मालिक मज़दूरों को केवल इतनी मज़दूरी देते हैं, जो उनके तथा उनके परिवारों के मात्र निर्वाह की व्यवस्था करती है, जबकि इस परिमाण से ऊपर मज़दूर जितना भी पैदा करता है, वह फ़ैक्टरी मालिक की जेब में उसके मुनाफ़े के रूप में चला जाता है। इस प्रकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत जन समुदाय दूसरों का उजरती मज़दूर होता है, वह अपने लिए काम नहीं करता, अपितु मज़दूरी पाने के वास्ते मालिकों के लिए काम करता है। यह बात समझ में आने वाली है कि मालिक हमेशा मज़दूरी घटाने का प्रयत्न करते हैं : मज़दूरों को वे जितना कम देंगे, उनका मुनाफ़ा उतना ही अधिक होगा। मज़दूर अधिक से अधिक मज़दूरी हासिल करने का प्रयत्न करते हैं, ताकि अपने परिवारों को पर्याप्त और पौष्टिक भोजन दे सकें, अच्छे घरों में रह सकें, दूसरे लोगों की तरह अच्छे कपड़े पहन सकें तथा भिखारियों की तरह न लगें। इस प्रकार मालिकों तथा मज़दूरों के बीच मज़दूरी की वजह से निरन्तर संघर्ष चल रहा है; मालिक जिस किसी

मज़दूर को उपयुक्त समझता है, उसे उजरत पर हासिल करने के लिए स्वतन्त्र है, इसलिए वह सबसे सस्ते मज़दूर की तलाश करता है। मज़दूर अपनी मर्जी के मालिक को अपना श्रम उजरत पर देने के लिए स्वतन्त्र है, इस तरह वह सबसे महँगे मालिक की तलाश करता है, जो उसे सबसे ज़्यादा देगा। मज़दूर चाहे देहात में काम करे या शहर में, वह अपना श्रम उजरत पर चाहे ज़मींदार को दे या धनी किसान को, ठेकेदार को अथवा फ़ैक्टरी मालिक को, वह हमेशा मालिक के साथ मोल-भाव करता है, मज़दूरी के लिए उससे संघर्ष करता है।

परन्तु क्या एक मज़दूर के लिए अकेले संघर्ष करना सम्भव है? मेहनतकश लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है : किसान तबाह हो रहे हैं तथा वे देहात से शहर या फ़ैक्टरी की ओर भाग रहे हैं। ज़मींदार तथा फ़ैक्टरी मालिक मशीनें लगा रहे हैं, जो मज़दूरों को उनके काम से वंचित करती रही हैं। शहरों में बेरोज़गारों की संख्या बढ़ रही है तथा गाँवों में अधिकाधिक लोग भिखारी बनते जा रहे हैं; जो भूखे हैं, वे मज़दूरी के स्तर को निरन्तर नीचे पहुँचा रहे हैं। मज़दूर के लिए अकेले मालिक से टक्कर लेना असम्भव हो जाता है। यदि मज़दूर अच्छी मज़दूरी माँगता है अथवा मज़दूरी में कटौती से असहमत होने का प्रयत्न करता है, तो मालिक उसे बाहर निकल जाने के लिए कहता है, क्योंकि दरवाज़े पर बहुत-से भूखे लोग खड़े होते हैं, जो कम मज़दूरी पर काम करने के लिए सहर्ष तैयार हो जायेंगे।

जब लोग इस हद तक तबाह हो जाते हैं कि शहरों और गाँवों में बेरोज़गारों की हमेशा बहुत बड़ी तादाद रहती है, जब फ़ैक्टरी मालिक अथाह मुनाफ़े खसोटते हैं तथा छोटे मालिकों को करोड़पति बाहर धकेल देते हैं, तब व्यक्तिगत रूप से मज़दूर पूँजीपति के सामने **सर्वथा असहाय** हो जाता है। तब पूँजीपति लिए मज़दूर को पूरी तरह कुचलना, दास मज़दूर के रूप में उसे और निस्सन्देह अकेले उसे ही नहीं, वरन उसके साथ उसकी पत्नी तथा बच्चों को भी मौत की ओर धकेलना सम्भव हो जाता है। उदाहरण के लिए, यदि हम उन व्यवसायों को लें, जिनमें मज़दूर अभी तक क़ानून का संरक्षण हासिल नहीं कर सकते हैं तथा जिनमें वे पूँजीपतियों का प्रतिरोध नहीं कर सकते, तो हम वहाँ असाधारण रूप से लम्बा कार्य-दिवस देखेंगे, जो कभी-कभी 17 से लेकर 19 घण्टे तक का होता है, हम 5 या 6 वर्ष के बच्चों को कमरतोड़ काम करते हुए देखेंगे, हम स्थायी रूप से ऐसे भूखे लोगों की एक पूरी पीढ़ी देखेंगे, जो धीरे-धीरे भूख के कारण मौत के मुँह में पहुँच रहे हैं। उदाहरण है वे मज़दूर, जो पूँजीपतियों के लिए अपने घरों पर काम करते हैं; इसके अलावा कोई भी मज़दूर बीसियों दूसरे उदाहरणों को याद कर सकता है! दासप्रथा या भूदास प्रथा के अन्तर्गत भी मेहनतकश जनता का कभी इतना भयंकर उत्पीड़न नहीं हुआ, जितना कि पूँजीवाद के अन्तर्गत हो रहा है, जब मज़दूर प्रतिरोध नहीं कर पाते या ऐसे क़ानूनों का संरक्षण प्राप्त नहीं कर सकते, जो मालिकों की मनमानी कार्रवाइयों पर अंकुश लगाते हों।

इस तरह अपने को इस घोर दुर्दशा में पहुँचने से रोकने के लिए मज़दूर व्यग्रतापूर्वक संघर्ष शुरू कर देते हैं। मज़दूर यह देखकर कि उनमें से हरेक व्यक्तिशः सर्वथा असहाय है तथा पूँजी का उत्पीड़न उसे कुचल डालने का ख़तरा पैदा कर रहा है, संयुक्त रूप से अपने मालिकों के विरुद्ध विद्रोह शुरू कर देते हैं। मज़दूरों की हड़तालें शुरू हो जाती हैं। आरम्भ में तो मज़दूर यह नहीं समझ पाते कि वे क्या हासिल करने की कोशिश कर रहे हैं, उनमें इस बात की चेतना का अभाव होता है कि वे अपनी कार्रवाई **किस वास्ते** कर रहे हैं : वे महज़ मशीनें तोड़ते हैं तथा फ़ैक्टरियों को नष्ट करते हैं। वे फ़ैक्टरी मालिकों को महज़ अपना रोष दिखाना चाहते हैं; वे अभी यह समझे बिना कि उनकी स्थिति इतनी असहाय क्यों है तथा उन्हें किस चीज़ के लिए प्रयास करना चाहिए, असह्य स्थिति से बाहर निकलने के लिए अपनी संयुक्त शक्ति की आज़माइश करते हैं।

तमाम देशों में मज़दूरों के रोष ने पहले छिटपुट विद्रोहों का रूप ग्रहण किया – रूस में पुलिस तथा फ़ैक्टरी मालिक उन्हें "गदर" के नाम से पुकारते हैं। तमाम देशों में इन छुटपुट विद्रोहों ने, एक ओर, कमोबेश शान्तिपूर्ण हड़तालों को और दूसरी ओर, अपनी मुक्ति के हेतु मज़दूर वर्ग के चहुँमुखी संघर्ष को जन्म दिया।

मज़दूर वर्ग के संघर्ष के लिए हड़तालों (काम रोकने) का क्या महत्व है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें पहले हड़तालों की पूरी तस्वीर हासिल करनी चाहिए। जैसाकि हम देख चुके हैं, मज़दूर की मज़दूरी मालिक तथा मज़दूर के बीच क़रार द्वारा निर्धारित होती है और यदि इन परिस्थितियों में निजी तौर पर मज़दूर पूरी तरह असहाय है, तो ज़ाहिर है कि मज़दूरों को अपनी माँगों के लिए संयुक्त रूप से लड़ना चाहिए, वे मालिकों को मज़दूरी घटाने से रोकने के लिए अथवा अधिक मज़दूरी हासिल करने के लिए हड़तालें संगठित करने के वास्ते बाधित होते हैं। यह एक तथ्य है कि पूँजीवादी व्यवस्था वाले हर देश में मज़दूरों की हड़तालें होती हैं। सर्वत्र, तमाम यूरोपीय देशों तथा अमरीका में मज़दूर ऐक्यबद्ध न होने पर अपने को असहाय पाते हैं; वे या तो हड़ताल करके या हड़ताल करने की धमकी देकर केवल संयुक्त रूप से ही मालिकों का प्रतिरोध कर सकते हैं। ज्यों-ज्यों पूँजीवाद का विकास होता जाता है, ज्यों-ज्यों फ़ैक्टरियाँ अधिकाधिक तीव्र गति से खुलती जाती हैं, ज्यों-ज्यों छोटे पूँजीपतियों को बड़े पूँजीपति बाहर धकेलते जाते हैं, मज़दूरों द्वारा संयुक्त प्रतिरोध किये जाने की आवश्यकता त्यों-त्यों तात्कालिक होती जाती है, क्योंकि बेरोज़गारी बढ़ती जाती है, पूँजीपतियों के बीच, जो सस्ती से सस्ती लागत पर अपना माल तैयार करने का प्रयास करते हैं (ऐसा करने के वास्ते उन्हें मज़दूरों को कम से कम देना होगा), प्रतियोगिता तीव्र होती जाती है तथा उद्योग में उतार-चढ़ाव अधिक तीक्ष्ण तथा संकट* अधिक उग्र होते जाते हैं। जब उद्योग फलता-फूलता है, फ़ैक्टरी मालिक बहुत मुनाफ़ा कमाते हैं, परन्तु वे उसमें मज़दूरों को भागीदार बनाने की बात नहीं सोचते। परन्तु जब संकट पैदा हो जाता है, तो फ़ैक्टरी मालिक नुक़सान मज़दूरों के मत्थे मढ़ने का प्रयत्न करते हैं। पूँजीवादी समाज में हड़तालों की आवश्यकता को यूरोपीय देशों में हरेक इस हद तक स्वीकार कर चुका है कि उन देशों में क़ानून हड़तालें संगठित किये जाने की मनाही नहीं करता; केवल रूस में ही हड़तालों के विरुद्ध भयावह क़ानून अब भी लागू है (इन क़ानूनों और उनके लागू किये जाने के बारे में हम किसी और मौक़े पर बात करेंगे)।

कुछ भी हो, हड़तालें जो ठीक पूँजीवादी समाज के स्वरूप के कारण जन्म लेती हैं, समाज की उस व्यवस्था के विरुद्ध मज़दूर वर्ग के संघर्ष की शुरुआत की द्योतक होती हैं। अमीर पूँजीपतियों का अलग-अलग, सम्पत्तिहीन मज़दूरों द्वारा सामना किया जाना मज़दूरों के पूर्ण दास बनने का द्योतक होता है। परन्तु जब ये ही सम्पत्तिहीन मज़दूर ऐक्यबद्ध हो जाते हैं, तो स्थिति बदल जाती है। यदि पूँजीपति ऐसे मज़दूर नहीं ढूँढ़ पायें, जो अपनी श्रम-शक्ति को पूँजीपतियों के औज़ारों और सामग्री पर लगाने और नयी दौलत पैदा करने के लिए तैयार हों, तो फिर कोई भी दौलत पूँजीपतियों के लिए लाभकर नहीं हो सकती। जब तक मज़दूरों को पूँजीपतियों के साथ निजी आधार पर सम्बन्ध रखना पड़ता है, वे ऐसे वास्तविक दास बने रहते हैं, जिन्हें रोटी का एक टुकड़ा हासिल कर सकने के लिए दूसरे को लाभ पहुँचाने के वास्ते निरन्तर काम करना होगा, जिन्हें हमेशा आज्ञाकारी तथा मूक उजरती नौकर बना रहना होगा। परन्तु जब मज़दूर संयुक्त रूप में अपनी माँग पेश करते हैं और थैलीशाहों के आगे झुकने से इंकार करते हैं, तो वे दास नहीं रहते, वे इन्सान बन जाते हैं, वे यह माँग करने लगते हैं कि उनके श्रम से मुट्ठीभर परजीवियों का ही हितसाधन नहीं होना चाहिए, अपितु उसे इन लोगों को भी, जो काम करते हैं, इन्सानों की तरह जीवनयापन करने में सक्षम बनाना चाहिए। दास स्वामी बनने की माँग पेश करने लगते हैं – वे उस तरह काम करना और रहना नहीं चाहते, जिस तरह ज़मींदार और पूँजीपति चाहते हैं, बल्कि वे उस तरह काम करना और रहना चाहते हैं, जिस तरह स्वयं मेहनतकश जन चाहते हैं। हड़तालें इसलिए पूँजीपतियों में सदा भय पैदा करती हैं कि वे उनकी प्रभुता पर कुठाराघात करती हैं। जर्मन मज़दूरों का एक गीत मज़दूर वर्ग के बारे में कहता है : "यदि चाहे तुम्हारी बलशाली भुजाएँ, हो जायेंगे सारे चक्के जाम"। और यह एक वास्तविकता है : फ़ैक्टरियाँ, ज़मींदार की ज़मीन, मशीनें, रेलें, आदि से एक विराट यन्त्र के चक्के की तरह हैं, उस यन्त्र की तरह, जो विभिन्न उत्पाद हासिल करता है, उन्हें परिष्कृत करता है तथा निर्दिष्ट स्थान को भेजता है। इस पूरे यन्त्र को गतिमान करता है **मज़दूर**, जो खेत जोतता है, ख़ानों से खनिज पदार्थ निकालता है, फ़ैक्टरियों में माल तैयार करता है, ख़ानों से खनिज पदार्थ निकालता है, फ़ैक्टरियों में माल तैयार करता है, मकानों, वर्कशापों और रेलों का निर्माण करता है। जब मज़दूर काम करने से इन्कार कर देते हैं, इस पूरे यन्त्र के ठप्प होने का ख़तरा पैदा हो जाता है। हरेक हड़ताल पूँजीपतियों को याद दिलाती है कि वे नहीं, वरन मज़दूर, वे मज़दूर वास्तविक स्वामी हैं, जो अधिकाधिक ऊँचे स्वर में अपने अधिकारों की घोषणा कर रहे हैं। हरेक हड़ताल मज़दूरों को याद दिलाती है कि उनकी स्थिति असहाय नहीं

(पेज 10 पर जारी)

हड़तालों के विषय में

(पेज 9 से आगे)

है, कि वे अकेले नहीं हैं। ज़रा देखें कि हड़तालों का स्वयं हड़तालियों पर तथा किसी पड़ोस की या नज़दीक की फ़ैक्टरियों में या एक ही उद्योग की फ़ैक्टरियों में काम करने वाले मज़दूरों, दोनों पर कितना ज़बरदस्त प्रभाव पड़ता है। सामान्य, शान्तिपूर्ण समय में मज़दूर बड़बड़ाहट किये बिना अपना काम करता है, मालिक की बात का प्रतिवाद नहीं करता, अपनी हालत पर बहस नहीं करता। हड़तालों के समय वह अपनी माँगें ऊँची आवाज़ में पेश करता है, वह मालिकों को उनके सारे दुर्व्यवहारों की याद दिलाता है, वह अपने अधिकारों का दावा करता है, वह केवल अपने और अपनी मज़दूरी के बारे में नहीं सोचता, वरन अपने सारे साथियों के बारे में सोचता है, जिन्होंने उसके साथ-साथ औज़ार नीचे रख दिये हैं और जो तक़लीफ़ों की परवाह किये बिना मज़दूरों के ध्येय के लिए उठ खड़े हुए हैं। मेहनतकश जनों के लिए प्रत्येक हड़ताल का अर्थ है बहुत सारी तक़लीफ़ें, भयंकर तक़लीफ़ें, जिनकी तुलना केवल युद्ध द्वारा प्रस्तुत विपदाओं से की जा सकती है – भूखे परिवार, मज़दूरी से हाथ धो बैठना, अक्सर गिरफ़्तारियाँ, शहरों से भगा दिया जाना, जहाँ उनके घरबार होते हैं तथा वे रोज़गार पर लगे होते हैं। इन तमाम तक़लीफ़ों के बावजूद मज़दूर उनसे घृणा करते हैं, जो अपने साथियों को छोड़कर भाग जाते हैं तथा मालिकों के साथ सौदेबाज़ी करते हैं। हड़तालों द्वारा प्रस्तुत इन सारी तकलीफ़ों के बावजूद पड़ोस की फ़ैक्टरियों के मज़दूर उस समय नया साहस प्राप्त करते हैं, जब वे देखते हैं कि उनके साथी संघर्ष में जुट गये हैं। अंग्रेज़ मज़दूरों की हड़तालों के बारे में समाजवाद के महान शिक्षक एंगेल्स ने कहा था : "जो लोग एक बुर्जुआ को झुकाने के लिए इतना कुछ सहते हैं, वे पूरे बुर्जुआ वर्ग की शक्ति को चकनाचूर करने में समर्थ होंगे।" बहुधा एक फ़ैक्टरी में हड़ताल अनेकानेक फ़ैक्टरियों में हड़तालों की तुरन्त शुरुआत के लिए पर्याप्त होती है। हड़तालों का कितना बड़ा नैतिक प्रभाव पड़ता है, कैसे वे मज़दूरों को प्रभावित करती हैं, जो देखते हैं कि उनके साथी दास नहीं रह गये हैं और, भले ही कुछ समय के लिए, उनका और अमीर का दर्जा बराबर हो गया है! प्रत्येक हड़ताल समाजवाद के विचार को, पूँजी के उत्पीड़न से मुक्ति के लिए पूरे मज़दूर वर्ग के संघर्ष के विचार को बहुत सशक्त ढंग से मज़दूर के दिमाग़ में लाती है। प्राय: होता यह है कि किसी फ़ैक्टरी या किसी उद्योग की शाखा या शहर के मज़दूरों को हड़ताल के शुरू होने से पहले समाजवाद के बारे में पता ही नहीं होता और उन्होंने उसकी बात कभी सोची ही नहीं होती। परन्तु हड़ताल के बाद अध्ययन मण्डलियाँ तथा संस्थाएँ उनके बीच अधिक व्यापक होती जाती हैं तथा अधिकाधिक मज़दूर समाजवादी बनते जाते हैं।

हड़ताल मज़दूरों को सिखाती है कि मालिकों की शक्ति तथा मज़दूरों की शक्ति किसमें निहित होती है; वह उन्हें केवल अपने मालिक और केवल अपने साथियों के बारे में ही नहीं, वरन तमाम मालिकों, पूँजीपतियों के पूरे वर्ग, मज़दूरों के पूरे वर्ग के बारे में सोचना सिखाती है। जब किसी फ़ैक्टरी का मालिक, जिसने मज़दूरों की कई पीढ़ियों के परिश्रम के बल पर करोड़ों की धनराशि जमा की है, मज़दूरी में मामूली वृद्धि करने से इन्कार करता है, यही नहीं, उसे घटाने का प्रयत्न तक करता है और मज़दूरों द्वारा प्रतिरोध किये जाने की दशा में हज़ारों भूखे परिवारों को सड़कों पर धकेल देता है, तो मज़दूरों के सामने यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि पूँजीपति वर्ग समग्र रूप में समग्र मज़दूर वर्ग का दुश्मन है और मज़दूर केवल अपने ऊपर और अपनी संयुक्त कार्रवाई पर ही भरोसा कर सकते हैं। अक्सर होता यह है कि फ़ैक्टरी का मालिक मज़दूरों की आँखों में धूल झोंकने, अपने को उपकारी के रूप में पेश करने, मज़दूरों के आगे रोटी के चन्द छोटे-छोटे टुकड़े फेंककर या झूठे वचन देकर उनके शोषण पर पर्दा डालने के लिए कुछ भी नहीं उठा रखता। हड़ताल मज़दूरों को यह दिखाकर कि उनका "उपकारी" तो भेड़ की खाल ओढ़े भेड़िया है, इस धोखाधड़ी को एक ही वार में ख़त्म कर देती है।

इसके अलावा हड़ताल पूँजीपतियों के ही नहीं, वरन सरकार तथा क़ानूनों के भी स्वरूप को मज़दूरों की आँखों के सामने स्पष्ट कर देती है। जिस तरह फ़ैक्टरियों के मालिक अपने को मज़दूरों के उपकारी के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं, ठीक उसी तरह सरकारी अफ़सर और उनके चाटुकार मज़दूरों को यह यक़ीन दिलाने का प्रयत्न करते हैं कि ज़ार तथा ज़ारशाही सरकार न्याय की अपेक्षानुसार फ़ैक्टरियों के मालिकों तथा मज़दूरों, दोनों का समान रूप से ध्यान रखते हैं। मज़दूर क़ानून नहीं जानता, उसका सरकारी अफ़सरों, ख़ास तौर पर ऊँचे पदाधिकारियों के साथ सम्पर्क नहीं होता, फलस्वरूप वह अक्सर इन सब बातों पर विश्वास कर लेता है। इतने में हड़ताल होती है। सरकारी अभियोजक, फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर, पुलिस और कभी-कभी सैनिक क़ारखाने में पहुँच जाते हैं। मज़दूरों को पता चलता है कि उन्होंने क़ानून तोड़ा है : मालिकों को क़ानून इकट्ठा होने और मज़दूरों की मज़दूरी घटाने और खुलेआम विचार-विमर्श करने की अनुमति देता है। परन्तु मज़दूर अगर कोई संयुक्त करार करते हैं, तो उन्हें अपराधी घोषित किया जाता है। मज़दूरों को उनके घरों से बेदख़ल किया जाता है, पुलिस उन दुकानों को बन्द कर देती है, जहाँ से मज़दूर खाने-पीने की चीज़ें उधार ले सकते हैं, उस समय भी जब मज़दूर का आचरण शान्तिपूर्ण होता है, सैनिकों को उनके ख़िलाफ़ भड़काने का प्रयत्न किया जाता है। सैनिकों को मज़दूरों पर गोली चलाने का आदेश दिया जाता है और जब वे भागती भीड़ पर गोली चलाकर निरस्त्र मज़दूरों को मार डालते हैं, तो ज़ार स्वयं सैनिकों के प्रति आभार-प्रदर्शन करता है (इस तरह ज़ार ने 1895 में यारोस्लाव्ल में हड़ताली मज़दूरों की हत्या करने वाले सैनिकों को धन्यवाद दिया था)। हर मज़दूर के सामने यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज़ारशाही सरकार उसकी सबसे बड़ी शत्रु है, क्योंकि वह पूँजीपतियों की रक्षा करती है तथा मज़दूरों के हाथ-पाँव बाँध देती है। मज़दूर यह समझने लगते हैं कि क़ानून केवल अमीरों के हितार्थ बनाये जाते हैं, कि सरकारी अधिकारी उनके हितों की रक्षा करते हैं, कि मेहनतकश जनता की ज़ुबान बन्द कर दी जाती है, उसे इस बात की अनुमति नहीं दी जाती कि वह अपनी माँगें पेश करे, कि मज़दूर वर्ग को हड़ताल करने का अधिकार, मज़दूर समाचारपत्र प्रकाशित करने का अधिकार, क़ानून बनानेवाली और क़ानूनों को लागू करने के कार्य की देखरेख करने वाली राष्ट्रीय सभा में भाग लेने का अधिकार अवश्य हासिल करना होगा। सरकार ख़ुद अच्छी तरह जानती है कि हड़तालें मज़दूरों की आँखें खोलती हैं और इस कारण वह हड़तालों से डरती है तथा उन्हें यथाशीघ्र रोकने का प्रयत्न करती है। एक जर्मन गृहमन्त्री ने, जो समाजवादियों तथा वर्ग-सचेत मज़दूरों को निरन्तर सताने के लिए बदनाम था, जन प्रतिनिधियों के सामने यह अकारण ही नहीं कहा था : "हर हड़ताल के पीछे क्रान्ति का कई फनोंवाला साँप (दैत्य) होता है"; प्रत्येक हड़ताल मज़दूरों में इस अवबोध को दृढ़ बनाती तथा विकसित करती है कि सरकार उनकी दुश्मन है तथा मज़दूर वर्ग को जनता के अधिकारों के लिए संघर्ष करने के वास्ते अपने को तैयार करना चाहिए।

अत: हड़तालें मज़दूरों को ऐक्यबद्ध होना सिखाती हैं; उन्हें बताती हैं कि वे केवल ऐक्यबद्ध होने पर ही पूँजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष कर सकते हैं; हड़तालें मज़दूरों को क़ारखानों के मालिकों के पूरे वर्ग के विरुद्ध, स्वेच्छाचारी, पुलिस सरकार के विरुद्ध पूरे मज़दूर वर्ग के संघर्ष की बात सोचना सिखाती है। यही कारण है कि समाजवादी लोग हड़तालों को "युद्ध का विद्यालय", ऐसा विद्यालय कहते हैं, जिसमें मज़दूर पूरी जनता को, श्रम करने वाले तमाम लोगों को सरकारी अधिकारियों के जुए से, पूँजी के जुए से मुक्त करने के लिए अपने दुश्मनों के ख़िलाफ़ युद्ध करना सीखते हैं।

परन्तु "युद्ध का विद्यालय" स्वयं युद्ध नहीं है। जब हड़तालें मज़दूरों के बीच व्यापक रूप से फैली होती हैं, कुछ मज़दूर (कुछ समाजवादियों समेत) यह सोचने लगते हैं कि मज़दूर वर्ग अपने को महज हड़तालों, हड़ताल कोषों या हड़ताल संस्थाओं तक सीमित रख सकता है, कि अकेले हड़तालों के ज़रिये मज़दूर वर्ग अपने हालात में पर्याप्त सुधार ला सकता है, यही नहीं, अपनी मुक्ति भी हासिल कर सकता है। यह देखकर कि संयुक्त मज़दूर वर्ग में, यही नहीं, छोटी हड़तालों तक में कितनी शक्ति होती है, कुछ सोचते हैं कि मज़दूर पूँजीपतियों तथा सरकार से जो कुछ भी हासिल करना चाहते हैं, उसके लिए बस इतना काफ़ी है कि मज़दूर वर्ग पूरे देश में आम हड़ताल संगठित करे। इसी तरह का विचार अन्य देशों के मज़दूरों द्वारा भी व्यक्त किया गया था, जब मज़दूर वर्ग आन्दोलन अपने आरम्भिक चरणों में था तथा मज़दूर अभी बहुत अनुभवहीन थे। **पर यह ग़लत विचार है।** हड़तालें तो उन उपायों में से **एक** हैं, जिनके ज़रिये मज़दूर वर्ग अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करता है, परन्तु वे एकमात्र उपाय नहीं हैं। यदि मज़दूर संघर्ष करने के अन्य उपायों की ओर ध्यान नहीं देते, तो वे मज़दूर वर्ग की संवृद्धि तथा सफलताओं की गति धीमी कर देंगे। यह सच है कि यदि हड़तालों को कामयाब बनाना है, तो हड़तालों के दौरान मज़दूरों के निर्वाह के लिए कोषों का होना ज़रूरी है। ऐसे मज़दूर कोष (आम तौर पर उद्योग की पृथक शाखाओं, पृथक व्यवसायों तथा वर्कशापों में मज़दूर कोष) तमाम देशों में रखे जाते हैं। परन्तु यहाँ रूस में यह बहुत कठिन है, क्योंकि पुलिस उनका पता लगाती है, धन जब्त कर लेती है तथा मज़दूरों को गिरफ़्तार करती है। निस्सन्देह, मज़दूर उन्हें पुलिस से छुपाने में सफल रहते हैं; स्वभावतया ऐसे कोषों को संगठित करना महत्त्वपूर्ण है और हम मज़दूरों को उन्हें संगठित करने के विरुद्ध परामर्श नहीं देना चाहते। परन्तु यह आशा नहीं की जानी चाहिए कि मज़दूर कोष क़ानून द्वारा निषिद्ध होने पर वे चन्दा देनेवालों को बड़ी संख्या में आकृष्ट करेंगे; और जब तक ऐसे संगठनों की सदस्य संख्या कम होगी, ये कोष बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं होंगे। इसके अलावा उन देशों तक में, जहाँ मज़दूर यूनियनें खुलेआम विद्यमान हैं तथा उनके पास बहुत बड़े कोष हैं, मज़दूर वर्ग संघर्ष के साधन के रूप में अपने को हड़तालों तक सीमित नहीं कर सकता। जो कुछ आवश्यक है, वह उद्योग के मामलों में एक विघ्न (उदाहरण के लिए संकट, जो रूस में आज समीप आता जा रहा है) है, और क़ारखानों के मालिक तो जानबूझकर हड़तालें तक करायेंगे, क्योंकि कुछ समय के लिए काम का बन्द होना तथा मज़दूर कोषों का घटना उनके लिए लाभप्रद होता है। इसलिए मज़दूर किसी भी सूरत में अपने को हड़ताल सम्बन्धी कार्रवाइयों तथा हड़ताल सम्बन्धी संस्थाओं तक सीमित नहीं कर सकते। दूसरे, हड़तालें वहीं सफल हो सकती हैं, जहाँ मज़दूर पर्याप्त रूप में वर्ग-सचेत होते हैं, जहाँ वे हड़तालें करने के लिए सही अवसर चुनने में सक्षम होते हैं, जहाँ वे यह जानते हैं कि अपनी माँगें किस तरह पेश की जाती हैं, और जहाँ उनके समाजवादियों के साथ सम्बन्ध होते हैं और उनके ज़रिये पर्चे और पैम्फ़लेट हासिल कर सकते हैं। रूस में ऐसे मज़दूर अभी बहुत कम हैं, उनकी तादाद बढ़ाने के लिए हर चेष्टा की जानी चाहिए, ताकि मज़दूर वर्ग का ध्येय जन साधारण को बताया जा सके, उन्हें समाजवाद तथा मज़दूर वर्ग के संघर्ष से अवगत कराया जा सके। समाजवादियों तथा वर्ग-सचेत मज़दूरों को इस उद्देश्य के लिए समाजवादी मज़दूर वर्ग पार्टी संगठित कर यह कार्यभार संयुक्त रूप से सँभालना चाहिए। तीसरे, जैसाकि हम देख चुके हैं, हड़तालें मज़दूरों को बताती हैं कि सरकार उनकी शत्रु है, कि सरकार के विरुद्ध संघर्ष चलाते रहना चाहिए। वस्तुत: हड़तालों ने ही धीरे-धीरे तमाम देशों के मज़दूर वर्ग को मज़दूरों के अधिकारों तथा समग्र रूप में जनता के अधिकारों के लिए सरकारों के ख़िलाफ़ संघर्ष करना सिखाया है। जैसाकि हम कह चुके हैं, केवल समाजवादी मज़दूर पार्टी ही मज़दूरों के बीच सरकार तथा मज़दूर वर्ग के ध्येय की सच्ची अवधारणा का प्रचार करके यह संघर्ष चला सकती है। किसी और अवसर पर हम ख़ास तौर पर इस बात की चर्चा करेंगे कि रूस में हड़तालें किस तरह संचालित होती हैं और वर्ग सचेत मज़दूरों को कैसे उनका उपयोग करना चाहिए। यहाँ हम यह इंगित कर दें कि हड़तालें जैसाकि हम ऊपर कह चुके हैं, स्वयं युद्ध नहीं, वरन "युद्ध का विद्यालय" हैं, कि हड़तालें संघर्ष का केवल एक साधन हैं, मज़दूर वर्ग आन्दोलन का केवल एक रूप हैं। अलग-अलग हड़तालों से मज़दूर श्रम करने वाले तमाम लोगों की मुक्ति के लिए पूरे मज़दूर वर्ग के संघर्ष की ओर बढ़ सकते हैं और उन्हें बढ़ना चाहिए, और वे वस्तुत: तमाम देशों में उस ओर बढ़ रहे हैं। जब तमाम वर्ग-सचेत मज़दूर समाजवादी हो जायेंगे, अर्थात जब वे इस मुक्ति के लिए प्रयास करेंगे, जब वे मज़दूरों के बीच समाजवाद का प्रसार कर सकने, मज़दूरों को अपने दुश्मनों के विरुद्ध संघर्ष के तमाम तरीक़े सिखा सकने के लिए पूरे देश में ऐक्यबद्ध हो जायेंगे, जब वे एक ऐसी समाजवादी पार्टी का निर्माण करेंगे, जो सरकारी उत्पीड़न से समग्र जनता की मुक्ति के लिए, पूँजी के जुए से समस्त मेहनतकश जनता की मुक्ति के लिए संघर्ष करती है, केवल तभी मज़दूर वर्ग तमाम देशों के मज़दूरों के उस महान आन्दोलन का अभिन्न अंग बन सकेगा, जो समस्त मज़दूरों को ऐक्यबद्ध करता है तथा जो लाल झण्डा ऊपर उठाता है, जिस पर ये शब्द लिखे हुए हैं : "दुनिया के मज़दूरो, एक हो!"

1899 के अन्त में लिखित।
पहले पहल 1924 में प्रकाशित।
अंग्रेजी से अनूदित

---

* हम उद्योग में संकटों तथा मज़दूरों के लिए उनके महत्त्व की अन्यत्र विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे। हम यहाँ केवल इतना कहेंगे कि हाल के वर्षों में रूस में औद्योगिक स्थिति ठीक-ठाक रही है, उद्योग "फल-फूल" रहा है, परन्तु अब (1899 के अन्त में) इस बात के स्पष्ट लक्षण दिखायी देने लगे हैं कि इस "फलने-फूलने" का अन्त संकट के रूप में होगा : वस्तुओं की बिक्री में कठिनाइयाँ, फ़ैक्टरी मालिकों का दिवालिया होना, छोटे मालिकों का तबाह होना तथा मज़दूरों के लिए भयानक विपदाएँ (बेरोज़गारी, कम मज़दूरी, आदि)।

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

जनचेतना

'जनचेतना' का सम्पूर्ण सूचीपत्र देखने और किताबों का ऑर्डर भेजने के लिए हमें पत्र लिखें या हमारे ब्लॉग पर जायें।

डाक का पता:
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
ब्लॉग का पता :
http://janchetnaa.blogspot.com

अदम्य बोल्शेविक – नताशा

एक स्त्री मज़दूर संगठनकर्ता की संक्षिप्त जीवनी (सातवीं क़िश्त)

एल. काताशेवा

रूस की अक्टूबर क्रान्ति के लिए मज़दूरों को संगठित, शिक्षित और प्रशिक्षित करने के लिए हज़ारों बोल्शेविक कार्यकर्ताओं ने बरसों तक बेहद कठिन हालात में, ज़बरदस्त क़ुर्बानियों से भरा जीवन जीते हुए काम किया। उनमें बहुत बड़ी संख्या में महिला बोल्शेविक कार्यकर्ता भी थीं। ऐसी ही एक बोल्शेविक मज़दूर संगठनकर्ता थीं नताशा समोयलोवा जो आख़िरी साँस तक मज़दूरों के बीच काम करती रहीं। हम 'बिगुल' के पाठकों के लिए उनकी एक संक्षिप्त जीवनी का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि आम मज़दूरों और मज़दूर कार्यकर्ताओं को इससे बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। – सम्पादक

(पिछले अंक से आगे)

सेमोयलोवा की पहल पर उन्होंने स्त्री कार्यकर्ताओं के अध्ययन के लिए छोटी अवधि वाले पाठ्यक्रम आयोजित किये और कारख़ानों की हमारी अधिकतर संगठनकर्ता इन पाठ्यक्रमों में शामिल हुईं। सेमोयलोवा इन पाठ्यक्रमों का निर्देशन करतीं और उनमें पढ़ाती भी थीं। उसके बाद मज़दूर स्त्रियों के बीच काम का एक नया तरीक़ा सोचा गया यानी स्त्री मज़दूर कार्यकर्ता सम्मेलन बुलाना।

निश्चित रूप से यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह फ़ॉर्म सेमोयलोवा की निर्विवाद संगठनात्मक प्रतिभा से प्रेरित था या इस क्षेत्र में काम कर रहे उन सभी साथियों के दिमाग़ में स्वत:स्फूर्त ढंग से आया था जो अक्टूबर क्रान्ति की ज़बरदस्त तैयारियों में लगे हुए थे। चाहे जिस भी वजह से यह हुआ हो, जनसंगठन के इस नये रचनात्मक रूप की तैयारियों का काम जल्दी ही ज़ोर-शोर से शुरू हो गया। सभी फ़ैक्टरियों में चुनाव कराये गये जिससे पिछड़ी चेतना की स्त्री मज़दूर कार्यकर्ताओं को जागृत करने और साहसी हरावल के स्तर तक उनका उन्नयन करने में मदद मिली जिन्होंने लाल अक्टूबर की सर्जना की। यह चुनाव सक्रिय काम का, सक्रिय क्रान्तिकारी संघर्ष का आह्वान था।

वे बैठकें, जिनमें स्त्री मज़दूरों की प्रतिनिधि अपनी जुझारू सहायक – सेमोयलोवा और निकोलेयेवा से विचार-विमर्श करतीं, खेरसन स्ट्रीट के "यूनिटी" क्लब में शनिवार के दिन होती थीं। मज़दूरों की आम क़तारों को रिपोर्टें दी जातीं और सम्मेलन में चुनावों के नतीजों की रिपोर्टें भी होतीं। ये रिपोर्टें पेत्रोग्राद के सर्वहारा में व्याप्त आम जज्बे का वास्तविक बैरोमीटर होतीं।

सेमोयलोवा अच्छी तरह जानती थीं कि बैरोमीटर "तूफ़ान" का संकेत दे रहा है। सम्मेलन अक्टूबर के अन्त में बुलाया गया था। यह शुरू हुआ और अपना काम करने लगा, परन्तु इस काम के शुरू होने के साथ "दस दिन जब दुनिया हिल उठी" का आगाज भी हो गया। तब सम्मेलन को किसी भावी तिथि तक के लिए स्थगित कर देने का निर्णय लिया गया ताकि वे प्रतिनिधि, जो अपनी-अपनी फ़ैक्टरियों में जनता के संगठनकर्ता थे, इन निर्णायक दिनों में अपनी तैनाती वाली जगहों पर बने रहने और अक्टूबर क्रान्ति के संघर्ष में अपना कर्तव्य निभाने में सक्षम हो सकें। अक्टूबर क्रान्ति के सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाने के बाद नवम्बर में सम्मेलन दोबारा शुरू हुआ। निकोलेयेवा अध्यक्ष और सेमोयलोवा उसके अध्यक्षीय मण्डल की सदस्य थीं। सम्मेलन में पेत्रोग्राद की सभी सक्रिय महिला कार्यकर्ताएँ थीं – ऐवास संयन्त्र की एमिल्या सोल्निन, बेसली आइलैण्ड पाइप फ़ैक्टरी की विनोग्रेदोवा, वायबोर्ग स्थित "नित्का" फ़ैक्टरी की स्पिनर वासिना, एरिक्सन फ़ैक्टरी की मिआश (जो बाद में युदेनिच के मोर्चे पर वीरगति को प्राप्त हुईं) वग़ैरह।

बिलकुल शुरुआत से ही, सम्मेलन ने सभी मौजूद लोगों की उन्नत वर्गीय चेतना को प्रकट किया। सम्मेलन स्वयं को मज़दूर वर्ग की सत्ता का अंग महसूस करता था। अध्यक्ष मण्डल पर टिप्पणियों की झड़ी लग गयी। यह पूछा गया कि जिनोविएव और केमेनेव ने पार्टी की केन्द्रीय कमेटी क्यों छोड़ी थी, रिकोव और लुनाचार्स्की ने जनकमीसार की परिषद से इस्तीफ़ा क्यों दिया था? (जिनोविएव और केमेनेव अक्टूबर क्रान्ति शुरू करने के निर्णय से असहमत थे। रिकोव और लुनाचेर्स्की तथाकथित जनवादी पार्टियों के ख़िलाफ़ पार्टी द्वारा अख़्तियार किये गये सख़्त रुख़ से असहमत थे।) उन्हें सही रास्ते पर लाने के लिए पार्टी ने क्या किया? सम्मेलन ऐसे क्षणों में निष्क्रिय नहीं रहना चाहता था, जब निष्क्रियता मज़दूर वर्ग की सत्ता को कमजोर कर सकती थी।

सेमोयलोवा के भाषण के फ़ौरन बाद निम्न प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया : "स्त्री मज़दूर कार्यकर्ताओं की यह बैठक माँग करती है कि सदस्यगण पार्टी अनुशासन का पालन करें और यह भी कि क्रान्तिकारी सर्वहारा की पार्टी की अखण्डता और एकता को बनाये रखने के लिए – जो इस समय अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा के क्रान्तिकारी आन्दोलन के हरावल का द्योतक है – मौजूदा हालात से निकलने का कोई रास्ता निकाला जाये। सिर्फ़ सुनिश्चित क्रान्तिकारी वर्गीय लाइन पर डटे रहकर ही रूस का सर्वहारा समाजवाद के लिए अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा के क्रान्तिकारी आन्दोलन को मज़बूती प्रदान कर सकता है।"

डाँवाडोल होने वाले साथियों को उन स्त्री मज़दूरों की जुझारू भावनाओं से अवगत कराने के लिए एक प्रतिनिधि मण्डल स्मोल्नी भेजा गया, जहाँ पेत्रोग्राद में संघर्ष कर रहे क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं का आम मुख्यालय था। उन स्त्री मज़दूरों ने उनके आचरण की कठोर शब्दों में निन्दा की। देर रात यह फ़ैसला लिया गया। समय गँवाने का अवसर नहीं था। प्रतिनिधि मण्डल रातों-रात स्मोल्नी रवाना हो गया।

स्त्री मज़दूर कार्यकर्ता इस सम्पूर्ण विश्वास के साथ बैठक से विदा हुईं कि बतौर स्त्री मज़दूर प्रतिनिधि वे पार्टी अनुशासन भंग करने वाले कॉमरेडों को प्रभावित कर लेंगी। मज़दूर स्त्रियाँ इस बात से आक्रोश में थीं कि ऐसे वक़्त जब सारी दुनिया की नज़रें रूस पर टिकी हुई थीं, हमारी क़तारों में कोई फूट पड़े, जिसके चलते वह ख़तरा जो हम पर मँडरा रहा है, हमारे दुश्मनों की निगाहों में आ जाये। स्मोल्नी पहुँचकर वे सबसे पहले लेनिन से मिलने गयीं। उन्होंने यह कहकर उन्हें शान्त करा दिया कि ऐसे कॉमरेडों का भ्रम जल्द ही दूर हो जायेगा, जो यह मानते हैं कि तथाकथित जनवादी संगठनों के साथ समझौते की अभी भी कोई गुंजाइश बची है।

"सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लें, कॉमरेड लेनिन, हम मज़दूर औरतें बस यही चाहती हैं", प्रतिनिधि मण्डल ने लेनिन से कहा। इसके जवाब में उनका कहना था : "मुझे नहीं बल्कि आप मज़दूरों को सत्ता अपने हाथ में ले लेनी चाहिए। अपनी-अपनी फ़ैक्टरियों में वापस जाइये और मज़दूरों से यही बताइये।"

पेत्रोग्राद की स्त्री मज़दूर हर परिस्थिति में साथ रहीं। वे एकजुट होकर लेनिन के पीछे चल रहे पेत्रोग्राद के सर्वहारा वर्ग के साथ, कन्धे से कन्धा मिलाकर चलीं। सही नेतृत्व और कम्युनिस्ट पार्टी के महान कार्यों की वजह से (सेमोयलोवा इस काम में पहली क़तार के लोगों में से एक थीं) मज़दूर औरतें पेत्रोग्राद के उन तमाम क्रान्तिकारी मज़दूरों के कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ीं, जिनके हाथों में उस वक़्त अक्टूबर क्रान्ति का भविष्य था।

स्त्री श्रमिकों और माँओं व नवजात शिशुओं की सुरक्षा के सवाल पर सम्मेलन ने कई प्रस्ताव पारित किये, जो आगे चलकर सोवियत सरकार द्वारा इस क्षेत्र में बनाये गये क़ानूनों का आधार बने। उसने कॉमरेड निकोलेयेवा के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मण्डल किसान प्रतिनिधियों की सोवियतों के अधिवेशन में भेजने का निर्णय किया, जिसका सत्र उस समय चल रहा था। यह प्रतिनिधि मण्डल जनकमिसार परिषद को, जिसे हाल ही में बोल्शेविकों ने मज़दूर वर्ग की सरकार के एक अंग के रूप में संगठित किया था, समर्थन देने के पेत्रोग्राद की स्त्री मज़दूरों के फ़ैसले की सूचना देने के लिए भेजा गया था।

सेमोयलोवा ने अक्टूबर क्रान्ति में अपनी तमाम क्रान्तिकारी सक्रियता को, क्रान्ति की जीत में सहभागी बनी, मज़दूर स्त्रियों के इस सशक्त सर्जनात्मक उभार के साथ एकरूप कर दिया। आगे चलकर उन्होंने पार्टी के और प्रेस के क्षेत्र में सोवियतों के काम में सक्रिय भूमिका निभायी, पर साथ ही उन्होंने एक सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में अपनी रचनात्मक प्रतिभा का भी परिचय दिया और स्त्री मज़दूरों तथा बाद में किसान स्त्रियों को कम्युनिस्ट पार्टी की क़तारों तक, सोवियत सत्ता के लिए संघर्षरत योद्धाओं की क़तारों तक, सोवियत सत्ता के निर्माताओं की क़तारों तक लाने में अपनी मेहनत लगा दी। उन्होंने जनता के बीच आन्दोलन, संगठन और प्रचार के नये रूप लागू किये। ये सारे नये रूप सम्भवत: उनके सुझाये हुए नहीं थे, लेकिन वे हमेशा उन पर विस्तार से काम करतीं और लोगों के बीच उन्हें लागू करतीं। नतीजा हमेशा एक ही रहा, जनता संघर्ष और रचनात्मक क्रान्तिकारी काम के लिए जागृत, संगठित और उद्वेलित हो जाती।

(अगले अंक में जारी)

अनुवाद: विजयप्रकाश सिंह

गोरख पाण्डेय की कविता – क़ानून

लोहे के पैरों में भारी बूट
कन्धे से लटकती बन्दूक़
क़ानून अपना रास्ता पकड़ेगा
हथकड़ियाँ डालकर हाथों में
तमाम ताक़त से उन्हें
जेलों की ओर खींचता हुआ
गुज़रेगा विचार और श्रम के बीच से
श्रम से फल को अलग करता
रखता हुआ चीज़ों को
पहले से तय की हुई
जगहों पर
मसलन अपराधी को
न्यायाधीश की, ग़लत को सही की
और पूँजी के दलाल को
शासक की जगह पर
रखता हुआ
चलेगा
मज़दूरों पर गोली की रफ़्तार से
भुखमरी की रफ़्तार से किसानों पर
विरोध की जुबान पर
चाकू की तरह चलेगा
व्याख्या नहीं देगा
बहते हुए ख़ून की
क़ानून व्याख्या से परे कहा जायेगा
देखते-देखते
वह हमारी निगाहों और सपनों में
ख़ौफ़ बनकर समा जायेगा
देश के नाम पर
जनता को गिरफ़्तार करेगा
जनता के नाम पर
बेच देगा देश
सुरक्षा के नाम पर
असुरक्षित करेगा
अगर कभी वह आधी रात को
आपका दरवाज़ा खटखटायेगा
तो फिर समझिये कि आपका
पता नहीं चल पायेगा
ख़बरों से इसे मुठभेड़ कहा जायेगा

पैदा होकर मिल्कियत की कोख से
बहसा जायेगा
संसद में और कचहरियों में
झूठ की सुनहली पालिश से
चमकाकर
तब तक लोहे के पैरों
चलाया जायेगा क़ानून
जब तक तमाम ताक़त से
तोड़ा नहीं जायेगा।

(1980)

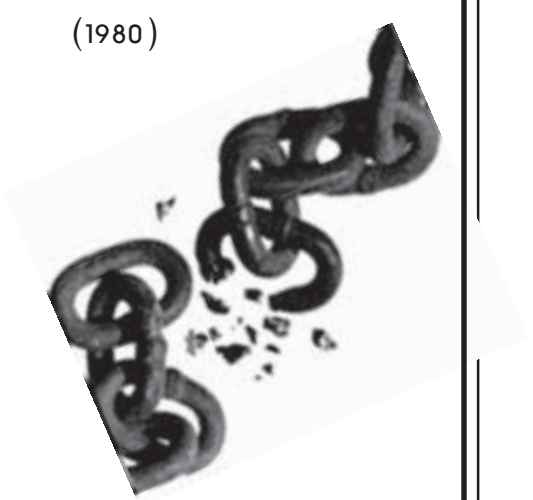

पंजीयन संख्या 71980/99 | डाक पंजीयन संख्या SSP/LW-NP/399/2009-11 | प्रेषक डाकघर - महानगर | प्रेषण तिथि - माह की 13, 14, 15 तारीख़

गोरखपुर में तीन कारख़ानों के मज़दूरों के एकजुट संघर्ष की शानदार जीत

(पेज 1 से आगे)

और धागा मिल वी.एन. डायर्स एण्ड प्रोसेसर्स के करीब 300 मज़दूर भी आन्दोलन में शामिल हो गये। मालिकों की तमाम कोशिशों के बावजूद दोनों मिलों में काम पूरी तरह ठप हो गया। लगातार जुझारू ढंग से धरना-प्रदर्शन और कई दौर की वार्ताओं के बाद 29 जून को दोनों कारख़ानों के मालिकान ने मज़दूरों की सभी मुख्य माँगों को मानने के लिए लिखित समझौता किया। इस बीच मालिकों ने मज़दूरों को बाँटने-बरगलाने, डराने- धमकाने के लिए हर क़िस्म की तिकड़म का इस्तेमाल किया, श्रम विभाग के अधिकारी नंगई से मालिकों की पैरोकारी करते रहे, स्थानीय नेताओं और गुण्डों तक ने आन्दोलन तोड़ने के लिए पूरा ज़ोर लगा लिया लेकिन किसी की एक न चली।

इसी बीच वी.एन. डायर्स एण्ड प्रोसेसर्स की कपड़ा मिल में भी उन्हीं माँगों को लेकर आन्दोलन शुरू हो गया। यहाँ भी लगभग 300 मज़दूर काम करते हैं। एक ओर धागा मिलों के मज़दूरों की जीत से उत्साहित मज़दूर पूरे जोश में थे, दूसरी ओर मालिक अपनी हार से बौखलाया हुआ था और बार-बार वार्ताओं में मामले को लटका रहा था। इसी दौरान 8 जुलाई की सुबह फ़ैक्टरी गेट पर मीटिंग करने के बाद जब मज़दूर लौट रहे थे तो अचानक मालिक नारायण अजितसरिया, उसके बेटे और कुछ गुण्डों ने पीछे से मज़दूरों पर हमला किया। खुद मालिक ने 'नौजवान भारत सभा' के कार्यकर्ता उदयभान के सिर पर पिस्तौल के कुन्दे से कई वार किये जिससे उनका सिर बुरी तरह फट गया। 'नौजवान भारत सभा' की गोरखपुर इकाई के संयोजक प्रमोद को मालिक और उसके गुण्डे घसीटकर फ़ैक्टरी के अन्दर ले गये और गेट बन्द कर लिया। भीतर प्रमोद के हाथ-पैर बाँधकर लाठी और लोहे के सरियों से बुरी तरह पीटा गया। एक बार तो उन्हें डराने के लिए ब्वायलर में झोंकने की भी कोशिश की गयी। इस बीच बाहर मज़दूरों ने सड़क पर चक्का जाम कर दिया, तब जाकर पुलिस पहुँची, लेकिन थानेदार गेट के भीतर गया तो काफ़ी देर तक लौटा ही नहीं। आख़िर मज़दूर जबरन फाटक खुलवाकर फ़ैक्टरी के भीतर घुसे और प्रमोद को लेकर बाहर आये। हमले में कई मज़दूरों को भी चोटें लगीं।

इस हमले से डरने के बजाय मज़दूर और भी मजबूती से एकजुट हो गये। दोनों धागा मिलों के मज़दूर भी अपने भाइयों के साथ एकजुटता ज़ाहिर करते हुए साथ आ गये। अगले दिन तीनों कारख़ानों के मज़दूरों ने विशाल जुलूस निकाला और ज़िलाधिकारी कार्यालय पर प्रदर्शन करके मालिक और उसके गुण्डों को फ़ौरन गिरफ़्तार करने की माँग की। प्रशासन के दबाव में 9 जुलाई से मालिक को फिर वार्ता शुरू करनी पड़ी और तमाम दाँव-पेंच के बावजूद आख़िरकार 13 जुलाई को लगभग आठ घण्टे चली वार्ता के बाद उसे मज़दूरों की सारी माँगें मानने के लिए बाध्य होना पड़ा।

तीनों कारख़ानों के मज़दूरों ने अपनी एकजुटता से काम के घण्टे आठ करने, न्यूनतम मज़दूरी, साप्ताहिक व अर्जित अवकाश देने, 24 घण्टे पहले वेतन-स्लिप देने, ज़रूरी सुरक्षा उपकरण देने, तथा नियमानुसार महँगाई भत्ता और बोनस देने जैसी माँगें मनवाने के लिए मालिकान को बाध्य कर दिया। यह जीत पूरे गोरखपुर क्षेत्र के मज़दूरों के लिए उम्मीद की किरण की तरह आयी है, जो बरसों से अपनी हड्डियाँ निचुड़वाते हुए जुल्म और शोषण के अँधेरे रसातल में जी रहे हैं।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के गोरखपुर ज़िले में दो औद्योगिक इलाक़े हैं। शहर की दक्षिणी सीमा पर स्थित बरगदवा तथा पूरब में शहर से करीब 15 किलोमीटर दूर सहजनवा का गीडा औद्योगिक क्षेत्र। बरगदवा में इस समय करीब 20 कारख़ाने हैं जिनमें तीन धागा मिलें, एक कपड़ा मिल, एक सरिया मिल, साइकिल के रिम, बर्तन, प्लास्टिक के बोरे, मुर्गी का चारा, आइसक्रीम, बिस्कुट आदि के कारख़ाने शामिल हैं। इनमें 80-100 से लेकर 1000 तक मज़दूर काम करते हैं। किसी भी मिल में कोई श्रम क़ानून लागू नहीं होता। मज़दूरों को मुश्किल से जीने लायक वेतन देकर 12-12, 14-14 घण्टे काम कराया जाता है। अक्सर दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। मज़दूरों को किसी तरह की कोई सुविधा नहीं मिलती। बात-बात पर गालियाँ और मार-पीट तक सहनी पड़ती है। विरोध करने पर निकाल दिया जाता है। किसी भी कारख़ाने में यूनियन नहीं है जिससे मालिकों को मनमानी करने की खुली छूट मिली हुई है। यहाँ काम करने वाले करीब आधे मज़दूर आसपास के इलाक़े से हैं तो करीब आधे बिहार से आकर यहाँ काम कर रहे हैं। इनमें से अधिकांश बरगदवा के आसपास ही कमरे किराये पर लेकर रहते हैं।

आन्दोलन की शुरुआत जिस अंकुर उद्योग लि. नाम की धागा मिल से हुई थी। वह 1998 में जब लगी तो वहाँ एक प्लाण्ट था, मज़दूरों को निचोड़कर की गयी कमाई से आज उसमें तीन प्लाण्ट लग चुके हैं। इसका काफ़ी माल विदेशी ख़रीदारों को भी सप्लाई होता है। यहाँ मज़दूरों से 12 घण्टे काम लिया जाता था पर उन्हें न्यूनतम मज़दूरी, ओवरटाइम, पी.एफ़., ई.एस.आई. साप्ताहिक छुट्टी जैसे बुनियादी अधिकार भी नहीं दिये जाते थे। फ़ैक्टरी के अन्दर का तापमान 90 से 100 डिग्री सेण्टीग्रेड तक पहुँच जाता था लेकिन बिजली बचाने के लिए एसी तो दूर पंखे तक नहीं चलाये जाते थे। मालिक और सुपरवाइज़रों की गाली- गलौच और पैसे काट लेना रोज़ की बात थी।

ऐसा नहीं था कि मज़दूर इस जुल्म को 11 वर्ष से चुपचाप सहन कर रहे थे। उन्होंने कई बार इसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी, लेकिन हर बार उन्हें दबा दिया गया। पिछले साल मज़दूरों ने हड़ताल कर दी और यूनियन बनाने की प्रक्रिया भी शुरू की। लेकिन मालिक ने कुछ मज़दूर नेताओं को ख़रीदकर हड़ताल तुड़वा दी। अपने ही साथियों की गद्दारी से मज़दूरों में गहरी निराशा और आक्रोश था। पिछले वर्ष दीवाली के समय मज़दूरों का गुस्सा फिर फूट पड़ा। बोनस के नाम पर इस कम्पनी में मज़दूरों को आधा किलो लड्डू और एक पतला-सा कम्बल पकड़ा दिया जाता है। इस बार मज़दूर लड्डू का डिब्बा लेकर मिल गेट से बाहर आते गये और एक-एक करके सारे लड्डू अन्दर फेंकते गये। उसी समय से मज़दूरों ने गद्दार नेताओं को किनारे लगाकर फिर से आपसी एकता बनाना शुरू कर दिया। अन्दर-अन्दर आग सुलगती रही। फिर 15 जून को सभी मज़दूरों ने बुनियादी सुविधाएँ दिये जाने की माँग करते हुए काम बन्द कर दिया। इसी दौरान कुछ मज़दूरों ने एक जुझारू नेतृत्व की तलाश करते हुए 'नौजवान भारत सभा' और 'बिगुल' से जुड़े साथियों से सम्पर्क किया। 'नौजवान भारत सभा' और 'बिगुल' के साथियों ने फ़ौरन उनके इस जुझारू संघर्ष का स्वागत किया और उनके कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने के लिए उनके साथ खड़े हो गये। 15 जून को ही मज़दूरों का 17 सूत्री माँगपत्र तैयार करके उसे सभी सम्बन्धित अधिकारियों तक पहुँचा दिया गया। 16 जून को 500 से ज़्यादा की संख्या में मज़दूरों का जुलूस बरगदवा से 10-11 किमी. की दूरी तय करके शहर में पहुँचा और उपश्रमायुक्त कार्यालय पर ज़ोरदार प्रदर्शन किया।

डी.एल.सी. महोदय सूचना होते हुए भी उस समय दफ़्तर से ग़ायब थे। फिर मज़दूरों का जुलूस ज़िलाधिकारी कार्यालय पर पहुँचा लेकिन उनके नारे सुनकर प्रशासनिक अधिकारी पिछले दरवाज़े से खिसक लिये। अगले दिन मज़दूरों ने फिर बरगदवा से चलकर कमिश्नर कार्यालय पर प्रदर्शन किया। कमिश्नर के निर्देश पर मिल प्रबन्धन, मज़दूर प्रतिनिधि तथा ज़िला प्रशासन के बीच 19 जून को वार्ता तय हुई। 19 जून को फिर सैकड़ों मज़दूर नारे लगाते हुए कलक्ट्रेट पहुँचे। इस बीच 16 से 19 जून के दरम्यान मज़दूरों ने शहर में जमकर पर्चे बाँटे और पोस्टर लगाये। तीन दिनों तक रोज़ शहर में गगनभेदी नारों के साथ सैकड़ों मज़दूरों के जुलूस की ख़बरों को दबा पाना मीडिया के लिए भी नामुमकिन था। 19 जून की वार्ता में डी.एल.सी. आया ही नहीं। ये वही डी.एल.सी. है जिसने कुछ महीने पहले अपनी रिपोर्ट में मालिक को क्लीनचिट देते हुए कहा था कि फ़ैक्टरी में श्रम क़ानूनों का कोई उल्लंघन नहीं हो रहा है। वार्ता में मैनेजमेण्ट मुख्य माँगों को मानने पर तैयार तो हुआ लेकिन आन्दोलन के अगुआ मज़दूरों को निकालने पर अड़ गया जिससे वार्ता अधूरी रह गयी। शुरू में उसने 'नौभास' और 'बिगुल' के प्रतिनिधियों के वार्ता में शामिल होने पर भी आपत्ति उठायी लेकिन मज़दूर प्रतिनिधि उनके बिना वार्ता करने को तैयार ही नहीं हुए। आख़िर उसे 'नौभास' के प्रमोद व प्रशान्त और श्रम मामलों के वकील सुरेन्द्रपति त्रिपाठी को वार्ता में शामिल करने पर राजी होना पड़ा।

अंकुर उद्योग लि. के ही बगल में वी.एन. डायर्स एण्ड प्रोसेसर्स की धागा मिल है जो 2000 में स्थापित हुई है। यहाँ भी 300 मज़दूर उन्हीं हालात में काम करते रहे हैं। यहाँ अंकुर उद्योग से थोड़ी बेहतर मज़दूरी मिलती थी लेकिन काम की परिस्थितियाँ उससे भी खराब थीं। मशीनों की रफ़्तार तेज़ करके मज़दूरों से इस कदर काम लिया जाता था कि 12 घण्टे की ड्यूटी के बाद वे बिल्कुल बेदम हो जाते थे। इस कारख़ाने के मालिक दो अजितसरिया बन्धु हैं जिनके नाम तो हैं विष्णु और नारायण लेकिन मज़दूर उन्हें राक्षस कहते हैं।

अंकुर उद्योग लि. के मज़दूरों के साथ 23 जून की वार्ता के ठीक पहले वी.एन. डायर्स के मज़दूर भी "मज़दूर-मज़दूर भाई-भाई, लड़कर लेंगे पाई-पाई!" का नारा लगाते हुए आन्दोलन में शामिल हो गये। 23 जून को एक बार फिर ज़िलाधिकारी कार्यालय सैकड़ों मज़दूरों के नारों से गूँज उठा। उस दिन हुई वार्ता में मालिकान ने झुकते हुए कहा कि अगुआ मज़दूरों को बर्खास्त नहीं करेंगे, सिर्फ़ निलम्बित करेंगे, फिर वापस ले लेंगे। लेकिन यही बात लिखकर देने को तैयार नहीं हुआ तो दिनभर चली वार्ता फिर टूट गयी। दरअसल मालिक की चाल यह थी कि आन्दोलन की अगली क़तार के मज़दूरों को बाहर करके बाक़ी माँगें मान लेगा तो कारख़ाना खुल जायेगा और जब मज़दूर नेतृत्वविहीन हो जायेंगे तो वह फिर से पुराने ढर्रे पर लौट जायेगा। लेकिन मज़दूरों ने आपस में फूट डालने की किसी कोशिश को कामयाब नहीं होने दिया। वे अपने एक भी साथी के ख़िलाफ़ कार्रवाई के लिए तैयार नहीं थे।

इसके बाद 25 जुलाई की वार्ता से पहले 24 जुलाई की रात को मज़दूरों ने पूरे बरगदवा क्षेत्र में सभाएँ कीं, पर्चे बाँटे और विशाल मशाल जुलूस निकाला। साथ ही आन्दोलन के पक्ष में समर्थन जुटाने के लिए शहर के नागरिकों और दूसरे मज़दूरों-कर्मचारियों से भी सम्पर्क करना शुरू कर दिया। इससे प्रशासन पर समझौता कराने का दबाव बढ़ गया। आख़िरकार 29 जून को हुई वार्ता में दोनों कारख़ानों के मैनेजमेण्ट मज़दूरों की सभी प्रमुख माँगें मानने पर तैयार हो गया।

इस बीच वी.एन. डायर्स की कपड़ा मिल में भी मज़दूरों के बीच सुगबुगाहट शुरू हो गयी थी। 27 जून को मिल मालिक ने कपड़ा मिल के मज़दूरों की मीटिंग बुलाकर कहा कि दोनों मिलें उसकी दो आँखों की तरह हैं – धागा मिल के मज़दूरों के साथ जो भी समझौता होगा, उसे यहाँ भी लागू किया जायेगा। लेकिन मज़दूरों ने समझ लिया था कि अगर वे एक होकर नहीं लड़ेंगे तो दोनों मिलों के मज़दूरों को कुछ नहीं मिलेगा। इसलिए 28 जून को कपड़ा मिल मज़दूरों ने भी काम ठप कर दिया। 29 जून की वार्ता में मालिक ने धागा मिल मज़दूरों

(पेज 4 पर जारी)

जिलाधिकारी कार्यालय की ओर बढ़ता मज़दूरों का जुलूस

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्रापिफक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग: कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : डा. दूधनाथ, सुखविन्दर • सम्पादकीय पता : 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 020 • सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ